भारतीय पुरातैहासिक पुरातत्व

श्री धर्मपाल अग्रवाल एवं
श्री पन्नालाल अग्रवाल

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
मानव संसाधन विकास मंत्रालय
(माध्यमिक शिक्षा और उच्चतर शिक्षा विभाग) भारत सरकार
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

भारतीय पुरैतिहासिक पुरातत्त्व

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
मानव संसाधन विकास मंत्रालय
(माध्यमिक शिक्षा और उच्चतर शिक्षा विभाग)
भारत सरकार
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

प्रकाशक :
डॉ. सुधाकर अदीब
निदेशक
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
लखनऊ।

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, मानव संसाधन विकास मंत्रालय (माध्यमिक शिक्षा तथा उच्चतर शिक्षा विभाग), भारत सरकार की विश्वविद्यालयस्तरीय ग्रन्थ निर्माण योजना के अन्तर्गत हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा प्रकाशित।

प्रथम संस्करण : 1973
द्वितीय संस्करण : 1982
तृतीय संस्करण : 2004
चतुर्थ संस्करण : 2014

प्रतियाँ : 500

ISBN : 978-93-82175-34-6

मूल्य : ₹ 120=00 (एक सौ बीस मात्र)

पुनरीक्षक :
डॉ. किरण कुमार थपल्याल
पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष,
प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्त्व विभाग,
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

मुद्रक
रोहिताश्व प्रिण्टर्स
268, ऐशबाग रोड, लखनऊ
फोन : 2692973

प्रकाशकीय

प्राचीन इतिहास और संस्कृति के अधिकाधिक वैज्ञानिक और प्रामाणिक बनाने में पुरातत्व का महत्व निर्विवाद है। समय के साथ-साथ विशेषकर स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद इसकी प्रामाणिकता, उपयोगिता और क्षेत्र विस्तार निरन्तर जारी है। आज प्राचीन इतिहास व संस्कृति के प्रति जागरूकता अबाध गति से बढ़ रही है। इसकी पृष्ठभूमि में इस पुरातात्विक योगदान का अपना महत्व है। भौतिक पृष्ठभूमि में इस पुरातात्विक योगदान का अपना महत्व है। भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, नृतत्वशास्त्र एवं विज्ञान की कई अन्य शाखाओं का सहयोग भी इतिहास के इस विशिष्ट क्षेत्र को निरन्तर मिल रहा है। इतिहास के अनेकानेक अज्ञात क्षेत्रों पर प्रकाश पड़ रहा है, हमारे ज्ञान का क्षितिज और अधिक विस्तारित हो रहा है।

विशिष्ट उत्खनन और पुरातात्विक क्षेत्र किस प्रकार की चुनौतियों से जूझता है, किस प्रकार कार्य करता है और निष्कर्ष निकालता है, इस पर सामान्य नागरिकों के बीच उत्सुकता हमेशा बनी रहती है। सम्भवतः हिन्दी भाषा में पुरातत्व सम्बन्धी स्तरीय एवं अच्छी पुस्तकें बहुत कम हैं। इस अभाव की पूर्ति के लिए लगभग चार दशक पूर्व केन्द्र सरकार के मानव संसाधन विभाग के सहयोग से हिन्दी संस्थान के हिन्दी ग्रन्थ प्रभाग द्वारा 'भारतीय पुरैतिहासिक पुरातत्व' पुस्तक का प्रकाशन किया गया था। अब इसका चौथा संस्करण मुद्रित होने जा रहा है। जो इसकी लोकप्रियता का प्रमाण है। पुस्तक के विद्वान लेखक श्री धर्मपाल अग्रवाल और श्री पन्ना लाल अग्रवाल के साथ-साथ सम्पूर्ण ग्रन्थ सामग्री प्रख्यात पुरातत्वविद् डॉ. किरण कुमार थपलियाल जिनके सम्पादन में और अधिक सारगर्भित हो सकी है, के प्रति हम हृदय से आभारी हैं।

पुस्तक भारतीय पुरैतिहासिक पुरातत्व विस्तृत भूमिका के बाद छः महत्वपूर्ण अध्यायों में विभक्त है जिनके शीर्षक हैं :- पारिस्थतिकी, भूगोल तथा संस्कृतियाँ, पुरातात्विक सामग्री और समस्याएँ, लौहकालीन संस्कृतियों का कालानुक्रम, प्राचीन विश्व व भारत में धातुकर्म व उपसंहार। इन सभी अध्यायों में प्रागैतिहासिक काल, हड़प्पा सभ्यता और बाद की अनेकानेक संस्कृतियों और उनसे जुड़े स्थलों की गहरी पड़ताल की गयी है। ताम्र और लौह युग पर भी इसकी उपलब्धियाँ असाधारण हैं। इस सन्दर्भ में दक्षिणी राजस्थान, महाराष्ट्र, गुजरात और मध्य भारत आदि के प्राचीन इतिहास व संस्कृति से सम्बन्धित वैज्ञानिक अध्ययन अत्यन्त प्रभावित करते हैं। विश्वास है कि पूर्व की भाँति पुस्तक का चतुर्थ संस्करण भी सुधी पाठकों और शोधार्थियों के बीच समान रूप से लोकप्रिय होगा।

डॉ. सुधाकर अदीब
निदेशक

निवेदन

विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में भारतीय संस्कृति की भी गणना होती है। आज विज्ञान का युग है और ऐसे में बिना उचित आधार के कोई भी ऐसा दावा आत्मप्रशंसा या कल्पना की श्रेणी में अधिक आता है। ऐसे में प्रामाणिकता की कसौटी पर यह तथ्य इसलिए खरा उतर सका क्योंकि पुरासाहित्य, संस्कृति और परम्परा में साथ-साथ इसके विभिन्न सवालों को हल करने में इतिहास पुरातत्व और विज्ञान का विलक्षण सहयोग भी हमें मिल सका। चाहे प्रागैतिहासिक काल हो या वैदिक या उसके बाद का इतिहास। वास्तव में ईसा से पूर्व का कई हजार वर्ष का प्रामाणिक भारतीय इतिहास आज हमारी अमूल्य धरोहर है।

कई बार इतिहास और पुरातत्व को एक ही समझ लिया जाता है जो उचित नहीं है। पुरातत्व इतिहास की वह शाखा है जो स्थल विशेष से प्राप्त प्राचीन वस्तुओं, वनस्पतियों और अन्य प्रमाणों के बीच तारतम्य बिठाती है, उनका वैज्ञानिक अध्ययन करती है। भौतिक विज्ञान के अन्तर्गत रेडियो कार्बन विधि आदि ने इनके तिथि निर्धारण में अभूतपूर्व योगदान दिया है। स्पष्ट है कि यह कार्य अत्यन्त जटिल है और पुरावस्तुओं की टूटी हुई कड़ियों को जोड़ पाना उतना आसान नहीं है, जितना प्रायः समझा जाता है। पुरातत्व की यह वैज्ञानिक प्रक्रिया किस तरह अनेकानेक उपलब्धियाँ प्राप्त कर सका, इस पर ही केन्द्रित है प्रख्यात पुराविद् धर्मपाल अग्रवाल और पन्ना लाल अग्रवाल की पुस्तक 'भारतीय प्रागैतिहासिक पुरातत्व' जो मानव संसाधन विकास मंत्रालय के वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग के सहयोग से उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान की हिन्दी ग्रन्थ अकादमी योजना के अन्तर्गत 1973 में प्रथम संस्करण के रूप में प्रकाशित हुई थी। तबसे इसके तीन संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं और अब यह चौथा संस्करण आपके हाथों में है। हिन्दी भाषा में पुरातत्व पर आधारित स्तरीय पुस्तकों का प्रायः अभाव रहा है। ऐसे में यह पुस्तक और अधिक उपयोगी हो जाती है। लखनऊ विश्वविद्यालय के पूर्व प्रोफेसर और प्रख्यात पुरातत्वशास्त्री डॉ. किरण कुमार थपल्याल के सम्पादन की पृष्ठभूमि में इस पुस्तक को पुरातत्व के मानक ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया जाने लगा है।

प्राचीन भारतीय संस्कृति से जुड़े हड़प्पा जैसे अनेकानेक प्रागैतिहासिक स्थलों का उत्खनन हो या ताम्र व लौह युग आदि के सन्दर्भ में जानकारियाँ या इतिहास के ऐसे ही अन्य अनेकानेक प्रसंगों पर यह पुस्तक 'भारतीय पुरैतिहासिक पुरातत्व' सारगर्भित प्रकाश डालती है। जिसके कारण इतिहास और पुरातत्व के छात्रों व शोधार्थियों के साथ-साथ जिज्ञासु पाठकों के बीच भी यह लोकप्रिय है। आशा है इस चतुर्थ संस्करण का लाभ भी पाठकवृन्द उठायेंगे।

उदय प्रताप सिंह
कार्यकारी अध्यक्ष

लता

और

शशि

को

समर्पित

विषय-सूची

आरेख शीर्षक

●

तालिका शीर्षक

●

अध्याय 1

भूमिका

कुछ वर्ष पहले तक भारतीय पुरातत्त्व का अर्थ केवल पुरालिपियों का एवं कला-इतिहास और सिक्कों का अध्ययन ही माना जाता था। परन्तु अब, विशेष रूप से स्वतंत्रता के बाद, प्रागैतिहासिक और पुरैतिहासिक पुरातत्त्व पर इतना अधिक महत्त्व दिया जाने लगा है कि आजकल पुरातत्त्व, प्रागैतिहासिक अध्ययन का पर्याय हो गया है। सिन्धु सभ्यता 1922 में ज्ञात हो चुकी थी, और यह अनुमान था कि यह लगभग 1500 ई.पू. तक जीवित रही, परन्तु ऐतिहासिक काल केवल पाँचवी सदी के लगभग प्रारम्भ होता है। सिन्धु सभ्यता के अन्त से पाँचवी शताब्दी ई. पूर्व के काल की संस्कृतियों के बारे में कोई प्रामाणिक जानकारी न थी। इसीलिए इसे अन्धयुग कहते थे। 1947 के बाद मुख्य उत्खनन प्रागैतिहासिक एवं पुरैतिहासिक स्थलों पर ही हुए। फलतः आज यह तथाकथित अन्धयुग न केवल काफी प्रकाशमान हो चुका है बल्कि इससे पूर्वकालीन पाषाण-काल के बारे में भी आज पहले की अपेक्षा कहीं अधिक जानकारी है। अब यह स्पष्ट हो गया है कि ऐतिहासिक और साहित्यिक स्रोतों के आधार पर बनाया गया इतिहास भारत में मानव के भूतकाल का एक बहुत ही छोटा सा अंश है। विशेषतः पिछले बीस वर्षों की खोजों से यह प्रकट हो गया कि भारतीय मानव के उस कहीं लम्बे इतिहास का पुनर्निर्माण करने के लिए, जो पाँचवी शती ईसा पूर्व से लाखों साल पहले तक फैला है, पुरातत्त्व को बहुत से दूसरे विषयों और तकनीकों का सहारा लेना पड़ेगा। विश्व में आज पुरातत्त्व एक बहुमुखी और बहुविषयक शास्त्र के रूप में विकसित हो रहा है।

पिछले दस साल में रेडियो कार्बन तिथिकरण प्रयोगशाला के प्रसंविदा के घनिष्ठ सम्पर्क में आने से भौतिकी तथा अन्य विज्ञान भारतीय पुरातत्त्व के बहुत नजदीक आये हैं। प्रागैतिहासिक काल के पुनर्निर्माण के लिए केवल भौतिक अवशेषों और उपकरणों का सहारा लेना पड़ता है। ये अवशेष पुरालेखों की तरह बोलते नहीं हैं। इनकी चुप्पी तोड़ने के लिए विज्ञान का सहारा लेना पड़ता है। इन बहुमुखी अध्ययनों की तीन मुख्य दिशाएँ हैं। सर्वप्रथम, एक-निरपेक्ष कालानुक्रम की आवश्यकता है, जिसके चौखटे में ही बिखरे हुए अपार पुरातात्त्विक प्रमाणों को संजोया और समझा जा सकता है। आज अनेक वैज्ञानिक विधियाँ काल-निर्धारण के लिए प्राप्त हैं। दूसरी आवश्यकता है विभिन्न संस्कृतियों के तकनीकी ज्ञान के अध्ययन की। बिना तकनीकी अध्ययन के हम उन लुप्त संस्कृतियों के संगठन, आर्थिक ढाँचे, धर्म, सामाजिक व्यवस्था, युद्ध शैलियों आदि के विषय में कुछ भी जानकारी प्राप्त नहीं कर सकते। इस प्रकार के अध्ययनों के लिए अनेक भौतिक और रासायनिक तकनीकों का प्रयोग करना पड़ता है। तीसरी दिशा है पारिस्थितिकी के अध्ययन की। पारिस्थितिकी का

बहुत गहरा प्रभाव संस्कृतियों के जन्म, विकास और ह्रास में होता है। वस्तुतः संस्कृति किसी जनसमूह के तकनीकी ज्ञान और शिल्प की तत्कालीन पारिस्थितिकी के बीच पारस्परिक क्रिया का फल है। पारिस्थितिकी के अध्ययन में भी अनेक जीवशास्त्र और भौतिक शास्त्र अपना योगदान करते हैं।

आज भारतवर्ष में अनेक उच्च वैज्ञानिक संस्थाएँ, उदाहरणार्थ भाभा अणुकेन्द्र, मुम्बई; टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ फंडामेंटल रिसर्च, मुम्बई; फिजीकल रिसर्च लेबोरेटरी, अहमदाबाद आदि भारतीय पुरातत्त्व के क्षेत्र में भी बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान दे रही हैं। पिछले दस-बारह साल में टाटा इंस्टीट्यूट और फिजीकल रिसर्च लैब ने सैकड़ों रेडियो कार्बन तिथियाँ निर्धारित करके अनेक प्राचीन संस्कृतियों (आरेख 1) का कालविस्तार निश्चित किया है। भाभा अणुकेन्द्र में प्राचीन धातुकर्म के अध्ययन के लिए अनेक वैज्ञानिक सुविधाएँ प्राप्त हैं, जिनका प्रयोग हमने व दूसरे अनुसंधानकर्ताओं ने किया है। अनेक पुरावनस्पति-वैज्ञानिकों ने भी पराग एवं अन्य वानस्पतिक अवशेषों के आधार पर भूतकाल की वनस्पति, जलवायु, कृषि एवं भोजन सम्बन्धी अनेक तथ्यों पर प्रकाश डाला है। अगले अध्यायों में हमने भारतीय पुरैतिहासिक काल का एक बहुमुखी एवं बहु-आयामिक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

दूसरे अध्याय में हमने पूरे भारत-पाक उपमहाद्वीप की पुरैतिहासिक संस्कृतियों की पारिस्थितिकी के परिवेश का अध्ययन किया है। उत्तर-पश्चिम के ईरानी क्षेत्र से लेकर दक्कन के पठारी प्रदेश की पारिस्थितिकी एवं उसके भौगोलिक तथ्यों का विवेचन इस अध्याय में दिया गया है। इसमें संस्कृतियों की विभिन्नता और विशिष्टताओं पर पारिस्थितिकी के प्रभाव का अध्ययन किया गया है। इस अध्याय में सिन्धु-सभ्यता के उद्‌भव और अन्त पर विभिन्न मतों का विशद विवेचन भी किया गया है।

तीसरे अध्याय में ताम्राश्मीय संस्कृतियों की पुरातात्त्विक सामग्री का अध्ययन किया गया है। इसके अन्तर्गत विभिन्न संस्कृतियों के स्थलों के उत्खननों का संक्षिप्त परिचय भी दिया गया है। अन्त में इस पुरातात्त्विक सामग्री के अध्ययन से जो समस्याएँ उभरती हैं उन पर विचार किया गया है।

कालानुक्रम और तिथि-निर्धारण पर चौथे अध्याय में विचार किया गया है। इस अध्याय में प्राग्हड़प्पा से लेकर ताम्राश्मीय एवं ताम्रसंचय संस्कृतियों के कालानुक्रम का विवेचन पुरातात्त्विक एवं कार्बन तिथियों के आधार पर किया गया है। हाल में प्राप्त दोआब के गेरुए भाण्ड की तापसंदीप्तिक तिथियाँ भी इस अध्याय में दी गयी हैं।

अध्याय पाँच में लौहकालीन संस्कृतियों की पुरातात्त्विक सामग्री एवं कालानुक्रम का अध्ययन साथ-साथ किया गया है। इस अध्याय में पश्चिम में स्वात घाटी से लेकर दक्षिण की महाश्मीय संस्कृतियों तक का विवेचन किया गया है।
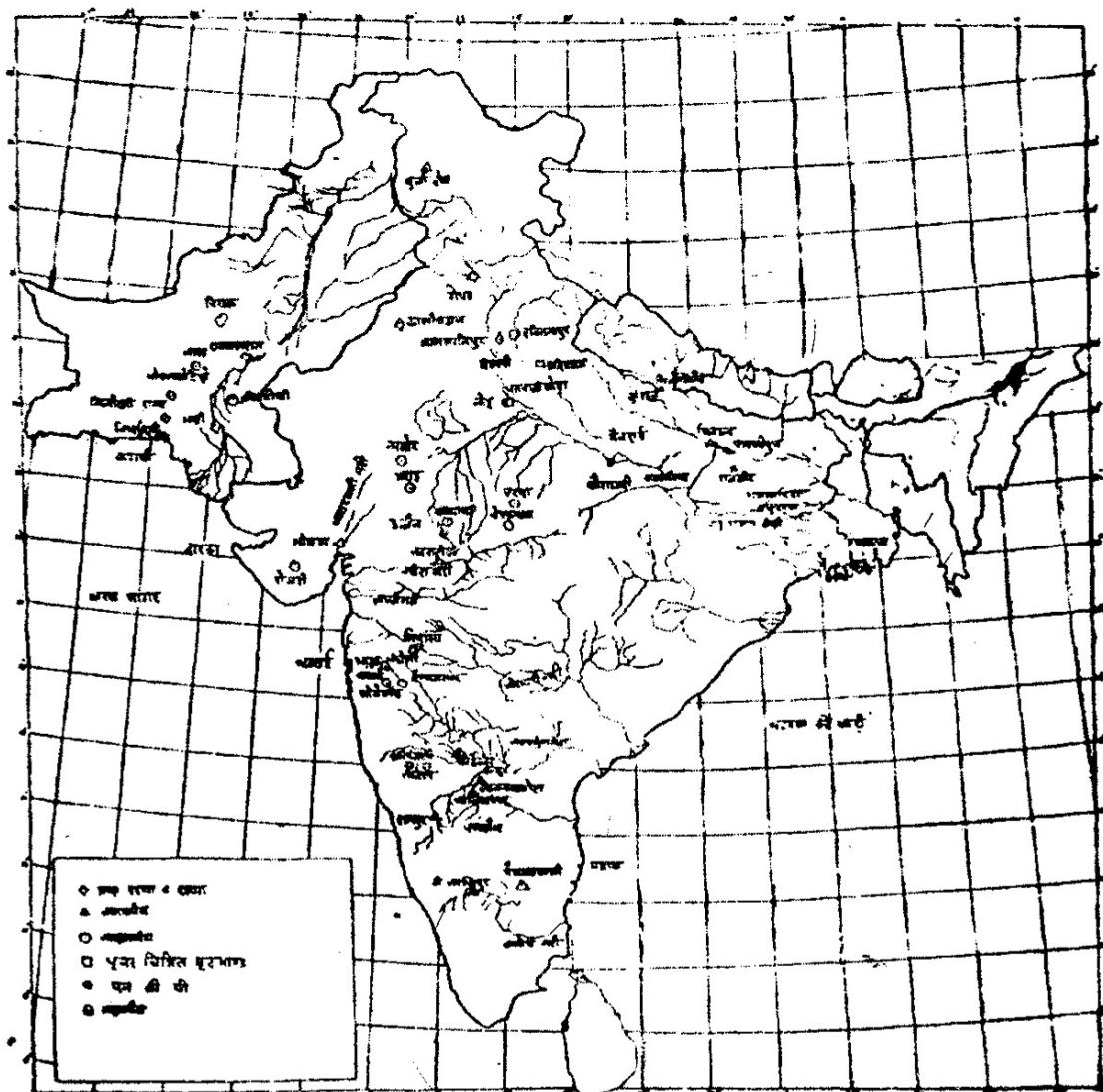
आरेख 1 : मुख्य पुरैतिहासिक स्थल जिनका कार्बन तिथिकरण हो चुका है।

छठे अध्याय में धातु-कर्म का विवेचन प्रस्तुत है। इस अध्याय में धातुकर्म के उद्भव, विकास और संचरण का, पूरे विश्व की पृष्ठभूमि में, विशद वर्णन किया गया है। इसमें विभिन्न संस्कृतियों के तकनीकी ज्ञान और उनके द्वारा विभिन्न अयस्क भंडारों के सम्भावित प्रयोग पर भी विचार किया गया है। इस अध्ययन का विशेष लाभ यह है कि उनके तकनीकी ज्ञान के वैभिन्य के आधार पर पुरैतिहासिक संस्कृतियों के सम्पर्क एवं अलगाव को समझा जा सकता है। ताम्र बाहुल्य का नगरीकरण पर प्रभाव भी दर्शाया गया है।

सातवें और अन्तिम अध्याय में पिछले छह अध्यायों के प्रमाणों का सारांश दिया गया है और पिछले अध्यायों में विवेचित सामग्री का संश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। अन्ततोगत्वा इन सब अध्ययनों का लक्ष्य पुरैतिहासिक काल की संस्कृतियों की पुनर्रचना करना है। इसीलिए इन सब पुरातात्त्विक सामग्री पर आधारित पुनर्रचनाएँ भी प्रस्तुत की गयी हैं।

✪✪✪

अध्याय 2

पारिस्थितिकी, भूगोल तथा संस्कृतियाँ

पुरैतिहासिक संस्कृतियों के प्रादुर्भाव, विकास व परस्पर वैभिन्य में उनके तकनीकी स्तर का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। पर किसी संस्कृति में उसकी तकनीकी क्षमता के प्रभाव को उसकी पारिस्थितिकी से अलग करके नहीं समझा जा सकता। कार्नवाल के कथनानुसार प्रारम्भिक मानव समाजों का अध्ययन हम उनकी सांस्कृतिक सज्जा तक सीमित नहीं रख सकते। वे एक ऐसे वातावरण में रहते थे जिसमें प्राकृतिक सम्पदा के बुद्धिमत्तापूर्ण और परिश्रम-युक्त उपयोग के करने पर उनको भोजन, कपड़ा, आश्रय व दैनिक जीवन की वस्तुएँ उपलब्ध होती थीं। प्राचीन जीवन के कार्य-कलापों को समझने के लिए हमें उनकी पारिस्थितिकी को दृष्टि में रखना होगा। व्हाइट और रैना के अनुसार कोई भी महत्वपूर्ण मानवीय कार्यकलाप, पारिस्थितिकी की सहायता अथवा विघ्न या निदेश से अछूता नहीं। हमारे देश में पूर्व-पश्चिम दिशाओं की ओर बहने वाली नदियों ने उत्तर व दक्षिण वासियों के अबाध आदान-प्रदान को अवरूद्ध कर दिया, जिसके फलस्वरूप पूरे इतिहास में राष्ट्रीय एकता की भावना नहीं पनप पायी।

यद्यपि पारिस्थितिकी ने मानव के भाग्य-निर्माण में मुख्य भूमिका निभायी पर तकनीकी विकास ने ही मानव को उसके वातावरण की अनेक बंदिशों से मुक्त किया। रिचर्ड, के.एम. पान्निकर, एम.वी. पीठावाला, ओ.ए.के. स्पेट आदि विद्वानों ने भारतीय संस्कृति के प्रारूप व विकास में पारिस्थितिकी की गहरी छाप देखी। पर सर्वप्रथम कोसंबी ने ही एक निश्चित पारिस्थितिकी के परिवेश में तकनीकी क्षमता की भूमिका के महत्त्व पर जोर दिया। सुब्बाराव ने भी पारिस्थितिकी के आधार पर समवेत भारतीय व्यक्तित्व की व्याख्या की। उन्होंने भारत-पाकिस्तान उपमहाद्वीप को तीन क्षेत्रों में विभाजित किया है –

1. शाश्वत आकर्षण के केन्द्र, जिनके अन्तर्गत मालवा, पंजाब, दोआब और दक्षिण पठार शामिल हैं।
2. अलगाव के क्षेत्र-छोटा नागपुर का जंगली पठार, विन्ध्याचल और अरावली की पहाड़ियाँ इस क्षेत्र के अन्तर्गत हैं।
3. आपेक्षित अलगाव के क्षेत्र गुजरात व सिंध माने गये हैं।

1958 तक प्राप्त प्रामाणिक सामग्री के आधार पर यह एक सुसंगत विवेचना थी। पर सुब्बाराव की पुस्तक की प्रस्तावना में व्हीलर ने शंका व्यक्त की कि अब से कुछ वर्ष बाद ही इसे पुनः लिखना होगा, अच्छा हो कि डॉ. सुब्बाराव स्वयं ही इसे फिर लिखें। दुर्भाग्यवश डॉ. सुब्बाराव नहीं रहे। अन्य पुराविदों ने संस्कृति पर पारिस्थितिकी के प्रभाव पर विशेष

ध्यान नहीं दिया। सुब्बाराव ने मत व्यक्त किया था कि आरम्भ में समुचित वर्षा वाले क्षेत्र ही खेती के लिए साफ किये गये थे। इस प्रकार उन्होंने पारिस्थितिकी व मानव प्रयत्नों के बीच संबंध स्थापित करने का प्रयत्न किया। पर पारिस्थितिकी स्वयं मानव प्रयत्नों द्वारा कैसे बदल दी जाती है, इसका मूल्यांकन वे नहीं कर पाये। उदाहरणार्थ दोआब को उन्होंने शाश्वत आकर्षण केन्द्र के अन्तर्गत रखा जो उचित नहीं, क्योंकि आदिकाल से ताम्रयुग तक यह क्षेत्र मानसूनी घने जंगल होने के कारण आकर्षण का केन्द्र नहीं था। कालांतर में लोहे की तकनीक के आविष्कार के फलस्वरूप मानव ने प्रचुर मात्रा में लोहे के उपकरण बनाये और वह इन घने जंगलों को साफ कर नयी बस्तियों को बसाने में समर्थ हुआ, इस प्रकार यह क्षेत्र कालांतर में आकर्षण-केन्द्र में बदल गया।

सुब्बाराव ने सदानीरा सिन्धु नदी के क्षेत्र को, जिसने महान् हड़प्पा सभ्यता को जन्म दिया, आपेक्षिक अलगाव के क्षेत्र में रखा। सिन्धु जैसी पारिस्थितिकी के क्षेत्रों में ही संसार की महान् सभ्यताओं का प्रादुर्भाव हुआ और वे विकसित हुई। सदियों से नील, दजला फरात व सिन्धु नदियाँ प्रतिवर्ष बाढ़ द्वारा लायी हुई उपजाऊ मिट्टी, अपने तटवर्ती प्रदेशों में बिछाती रहीं और उन्हें सींचती रहीं। ऐसी घाटियों में कृषि उत्पादन बढ़ा, जिसके फलस्वरूप अतिरिक्त उत्पादन संभव हुआ। इस उत्पादन में जनसंख्या और साधनों का भी विशेष योगदान है।

इसी प्रकार नर्मदा नदी की सँकरी व जंगलों से आच्छादित ऊँची घाटियों को शाश्वत आकर्षण केन्द्र नहीं कहा जा सकता। ऐसी पारिस्थितिकी में विस्तृत खेतिहर बस्तियाँ संभव न थीं।

पुरैतिहासिक संस्कृतियों की पारिस्थितिकी को समझे बिना सभ्यताओं के जन्म व विकास में पारिस्थितिकी व तकनीकी ज्ञान के परस्पर योग का मूल्यांकन हम नहीं कर सकते। परन्तु अब तक प्राप्त प्राचीन वानस्पतिक प्रमाण उस पारिस्थितिकी के अध्ययनार्थ नगण्य ही हैं।

पारिस्थितिकी की दृष्टि से तत्कालीन क्षेत्रों को निम्नलिखित भागों में विभाजित किया जा सकता है :-

I- पाकिस्तानी-ईरानी सीमा क्षेत्र।

II- सिन्ध-पंजाब व राजस्थानी क्षेत्र।

III- दोआब।

IV- मध्यवर्ती पठार।

I- पाकिस्तानी-ईरानी सीमा क्षेत्र

भौतिक रचना की दृष्टि से अफगानिस्तान व बलूचिस्तान समान हैं। पश्चिमी मध्य

एशिया से आने वाली हवा, उत्तर से दक्षिण में फैली पर्वतमालाओं के कारण, इन घाटियों में पहुँच जाती है और दक्षिण पर्वतमालाएँ दक्षिणी पूर्वी हवाओं को रोक देती हैं। बलूचिस्तान मानसूनी हवाओं के प्रभाव-क्षेत्रों से बाहर पश्चिम में पड़ता है। यहाँ वर्षा, शीत ऋतु में भूमध्य सागरी ठंडी हवाओं से होती है; औसत वार्षिक वर्षा 10" है। अतः इस क्षेत्र की जलवायु सिंध व पंजाब की अपेक्षा ईरान जैसी है। अर्ध-शुष्क जलवायु के कारण लोगों का मुख्य उद्यम खेती-बारी व पशुपालन रहा है। बस्तियाँ पूर्वी व उत्तरी भागों में केन्द्रित हैं। क्वेटा व पिशिन क्षेत्र में पैदावार के लिए पानी कठिनाई से ही पूरा हो पाता है। शुष्क जलवायु के कारण व समुद्री हवाओं से अछूता रहने से इस क्षेत्र का अधिकांश भाग रेगिस्तान है।

नदियों के तट सँकरे व ऊँचे हैं। अतः बाढ़ निर्मित मैदान कुछ ही क्षेत्रों में सीमित हैं और बहुत सँकरे हैं। नदियों से सिंचाई पठारी क्षेत्र में अधिक होती है। कहीं-कहीं कुओं का भी प्रयोग होता है पर अधिकांशतः शुष्क खेती (खुश्काव) पर निर्भर है। दुर्गम व शुष्क पहाड़ों ने मानव संपर्क को कठिन व यातायात को असंभव बना दिया था, फलस्वरूप यहाँ की पारिस्थितिकी ने विविध संस्कृतियों को जन्म दिया। दूसरी ओर हड़प्पा सभ्यता की एकरूपता का कारण संभवतः उस क्षेत्र की पारिस्थितिकी ही थी।

इस क्षेत्र में आज की अपेक्षा बड़ी संख्या में प्राचीन टीले व बाँध मिले हैं। अतः स्टाईन ने वर्तमान काल की अपेक्षा पुरैतिहासिक काल में अधिक आर्द्रता की परिकल्पना की थी। राइक्स, डाइसन व फेयरसर्विस के अनुसार जहाँ भी आज भूमि उपजाऊ है और पानी है वहाँ इन घाटियों में प्राचीन स्थल मिलते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि वर्तमान क्वेटा की जलवायु व पारिस्थितिकी, पुरैतिहासिक काल से अब तक बदली नहीं है।

ऋतु-प्रवास आज भी अनेक क्षेत्रों में सामान्य जीवन का एक अंग है, जिस पर स्टाईन ने अधिक ध्यान नहीं दिया। अल्प वर्षा व शीत ऋतु की कठोर ठंड यहाँ के जन-जीवन को मौसमी स्थानान्तर के लिए विवश कर देती थी। शुष्क खेती पर आधारित अनिश्चित जीवन यापन, मानव को यायावर जीवन की शरण में डाल देता था। इस प्रकार प्राकृतिक शुष्कता व कठोरता के कारण अनेक बस्तियों व टीलों का जन्म हुआ, न कि आबादी की अधिकता के कारण।

स्टाईन के मतानुसार प्रचुर मात्रा में पानी रोकने के लिए विशाल शिलाखण्डों से निर्मित बांधों को बनाने के लिए अपार जन-शक्ति का प्रयोग किया गया होगा। परन्तु राइक्स ने हिसाब लगाया कि एक शिलाखण्ड 60X100X150 सेन्टीमीटर के आकार का, दो टन भार का होगा, जिसे एक साथ एक बार उठाने के लिए लगभग साठ व्यक्ति लगेंगे। केवल एक घन मीटर पत्थर को उठाने के लिए इतने हाथ कैसे लग सकते थे? अतः स्पष्ट है कि उत्तोलक का प्रयोग किया गया होगा। इतने भारी पत्थरों का उपयोग उनकी कार्यपटुता व निपुणता का द्योतक है न कि अपार जनसंख्या का। राइक्स के मतानुसार ये निर्माण-कार्य बाँध नहीं थे क्योंकि बाँध की किसी भी कसौटी पर ये ठीक नहीं उतरते। ये खेतिहर भूमि

को बाँधने के लिए पार्श्वतल थे। 'इस प्रकार के पार्श्वतल, सभी शुष्क क्षेत्रों की विशेषताएँ हैं। इन विशेष प्रकार के पार्श्वतलों की उत्पत्ति आकस्मिक बाढ़ों अथवा पहाड़ों की नंगी पीठों से स्थानीय बाढ़ों के कारण होती थीं।'

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट होता है कि इस क्षेत्र की जलवायु भूतकाल में अधिक शुष्क नहीं थी। वस्तुतः एक विशिष्ट प्रकार की पारिस्थितिकी ने जहाँ एक ओर विविध संस्कृतियों को जन्म दिया वहाँ दूसरी ओर विशाल बस्तियों के प्रादुर्भाव में सहायता नहीं की। यह उल्लेखनीय है कि मुन्डीगाक काल III में मृद्भाण्ड रचना में, बहुरंगी व द्विरंगी परम्परा एक साथ मिलती है। कालांतर में यह परम्परा विभाजित हो गयी। उच्च प्रदेश के निवासी नाल लोगों ने बहुरंगी मृद्भाण्ड परम्परा को अपनाया लेकिन पहाड़ों की उपत्यकाओं व सिंध के मैदान में उतरने वाले आम्री लोगों ने द्विरंगी मृद्भाण्ड परम्परा प्रारम्भ की और अन्ततोगत्वा सिंध के नगरीकरण और सभ्यता की उत्पत्ति में अपना अंशदान किया।

II- सिंध, पंजाब व राजस्थान क्षेत्र

पारिस्थितिकी जहाँ विकास का मार्ग खोल सकती है वहाँ उसे अवरुद्ध भी कर सकती है। इसीलिए किसी संस्कृति व सभ्यता की पारिस्थितिकी के ज्ञान के बिना उसके प्रादुर्भाव व विकास को समझना कठिन है। इस प्रकार हड़प्पा संस्कृति के प्रादुर्भाव, व्यापक विस्तार व विकास को भी उसके पारिस्थितिकीय परिवेश के अन्तर्गत ही समझना होगा।

हड़प्पाकालीन पारिस्थितिकी के संबंध में विभिन्न मत हैं जिनकी हम नीचे, विवेचना करेंगे :-

(क) निरन्तर बढ़ती हुई शुष्कता का सिद्धान्त और सिन्ध सभ्यता का अन्त

काश्कोई, झालावान, सारावान आदि स्थानों में प्रचुर संख्या में पाये गये बाँधों के आधार पर स्टाईन इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि पुरैतिहासिक काल में जलवायु उस समय के मानव के अधिक अनुकूल थी और भूमि की उर्वरता अधिक जनसंख्या का परिपालन कर सकती थी। उन्हें लगा कि इस प्रदेश से प्राप्त अनेक बाँध, टीले व अन्य सामग्री तत्कालीन सांस्कृतिक स्थिरता की द्योतक हैं और निरन्तर बढ़ती हुई शुष्कता की भी।

पिगट और व्हीलर के मतानुसार शुष्कता सिन्धु की घाटी में भी निरन्तर बढ़ती गयी। पिगट ने कहा कि पशुजीवन, लाखों ईंटों को पकाने के लिए लकड़ी व उन्नत और व्यापक कृषि, वर्तमान काल से भिन्न जलवायु दर्शाती है। जबकि मोहनजोदड़ो में आजकल वार्षिक सीमांकन ग्रीष्म काल में 120^0F व शीत ऋतु में पाले के बिन्दु के मध्य हैं और वार्षिक वर्षा औसतन 6" है।

पक्की ईंटों का प्रयोग, अधिक वर्षा के कारण अधिक टिकाऊ सामग्री की आवश्यकतावश

ही हो सकता है। इसी प्रकार शहर की विस्तृत जल-निकास व्यवस्था, व्यापक वर्षा के पानी के प्रसंग में ही समझी जा सकती है। पिगट के मतानुसार सिन्ध की मोहरों में अंकित गेंडा, हाथी, दरियाई घोड़ा आदि जानवर, जो अब विलुप्त हो गये हैं, भूतकाल में अधिक आर्द्रता के द्योतक हैं। व्हीलर ने भी कहा है कि विस्तृत जंगल व बीच-बीच में फैले दल-दल हाथी, शेर, गैंडों व मगरमच्छ से भरे पड़े थे, जिनका अंकन विशिष्ट रूप से सिन्ध की मोहरों में मिलता है।

(i) जलवायु सम्बन्धी प्रमाण

निरन्तर बढ़ती शुष्कता के सिद्धान्त की सर्वप्रथम फेयरसर्विस ने आलोचना करते हुए स्पष्ट किया था कि सिन्धु तटीय जंगल, बबूल, झाऊ, कंडी, शीशम और बेहन के वृक्षों के थे। इनमें से झाऊ, कंडी, बबूल व अन्य दूसरे पेड़ आज भी ईंधन में प्रयोग किये जाते हैं। पीठावाला के कथनानुसार सिन्धु तटीय जंगल बाढ़ के पानी से सिंचित और विकसित हुए, न कि वर्षा के कारण। उन्होंने यह भी बताया कि मोहनजोदड़ों के नये संग्रहालय व डाक-बँगलों की ईंटें स्थानीय मिट्टी की बनी हैं जिन्हें कंडी की लकड़ी की आँच में खूब आसानी से पकाया गया है। इसी प्रकार भूतकाल में भी किया गया होगा। कंडी की लकड़ी वहाँ बहुतायत से होती है जो कि अन्य ईंधनों से अधिक ताप देती है। राइक्स और डाइसन के मतानुसार हड़प्पा काल में भी आज की भाँति ईंटों को पकाने के लिए स्थानीय लकड़ी का प्रयोग किया जाता था। 1908 ई. तक लकड़ी यहाँ से निर्यात भी होती रही। मोहनजोदड़ों के शहर में प्रयुक्त ईंटों को पकाने के लिए लकड़ी की आवश्यकता के विषय में उन्होंने कहा है कि प्रत्येक बार शहर के पुनः निर्माणार्थ ईंधन, 400 एकड़ के तटीय जंगल से पर्याप्त होता रहा होगा। 140 वर्ष के औसतन अंतर से पुनः निर्माण होने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि 400 एकड़ का क्षेत्र आवश्यकतानुसार प्रत्येक बार उपयोग होता रहा होगा।

हड़प्पा में मिले वानस्पतिक अवशेषों का विश्लेषण कर घोष और चौधरी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि लकड़ी के अवशेष इस सिद्धान्त की पुष्टि नहीं करते कि आर्द्र-उष्ण कटिबंधी जंगल हड़प्पा के आसपास फैले थे। यहाँ तक कि देवदारु व चीड़ की इमारती लकड़ी भी उत्तरी पर्वतों से प्राप्त की गयी थी। अन्य प्रमाणों से भी यह स्पष्ट होता है कि लम्बी घास वाली और झाड़ियों वाले जंगल व कहीं-कहीं दलदली क्षेत्र हड़प्पा में या उसके निकट थे। इस प्रदेश में उगायी जाने वाली कपास इस बात का प्रमाण है कि पुरैतिहासिक जलवायु भी वर्तमान जैसी ही थी।

पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि व्हीलर व पिगट ने पुरैतिहासिक काल के हड़प्पा संस्कृति में पाये जाने वाले पशुओं के आधार पर निरन्तर बढ़ती हुई शुष्कता के सिद्धान्त की पुष्टि की थी। इसके विपरीत फेयरसर्विस का कथन है कि बिना किसी अपवाद के कहा जा सकता है कि हड़प्पा संस्कृति से सम्बन्धित जीव-जगत् चरागाह व खुले जंगलों पर निर्भर था। ऐसे क्षेत्र, कृषि व पालतू जानवर दोनों के लिए बहुत उपयुक्त थे। इनकी सफाई जंगली जानवरों के विनाश का कारण हो सकी।

सिन्धु नदी के ऊपरी क्षेत्र में बाँध पाये जाते हैं। नदी किनारे की ऊँची-ऊँची घास व घनी झाड़ियाँ सैंधवों के लिए शिकार, छाया व पानी तीनों की आवश्यकता पूरी करती थीं। 300 वर्ष पूर्व तक गेंडा इस क्षेत्र में मिलता था जो घनी घास व दलदल में रहना पसंद करता है। ऐसे ही नेवला और भैंसा भी घनी घासों में रहने वाले जीव हैं। भैसा घने वृक्षों के जंगल में बहुत कम प्रवेश करता है। मोहनजोदड़ों से पाया गया एक घोंघा (Zootecus insularis) शुष्क प्रदेश का जीव है। हाथी मध्य प्रदेश के पश्चिम में कभी नहीं पाया गया अतः प्रतीत होता है कि यहाँ पर बाहर से लाया गया था।

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि जंगली जानवरों के सर्वनाश का कारण मनुष्य था, न कि जलवायु।

पिगट के मतानुसार हड़प्पा की विकसित जल-निकास-व्यवस्था वर्षा के अतिरिक्त पानी के निकास के लिए थी। राइक्स और डाईसन ने हड़प्पा की जल-निकास-व्यवस्था की जल विकास-शक्ति का मोटा अनुमान लगाते हुए बताया कि ये वर्तमान काल के औसत तूफानी वर्षा के पानी को भी बहाने के लिए पर्याप्त नहीं हैं।

राइक्स और डाईसन के निष्कर्ष महत्वपूर्ण लगते हैं। उनके तर्क अकाट्य नहीं हैं। प्रथम, वे प्रतिवर्ष बड़ी संख्या में भारी वर्षा का होना मानते हैं जबकि इस मत की पुष्टि का कोई प्रमाण नहीं है। दूसरे, बहुत अच्छी जलनिकास व्यवस्था भी भारी तूफानी वर्षा में असफल हो जाती है। साधारणतया जल-निकास व्यवस्था मौसमी भारी वर्षा के पानी के निकास को ध्यान में रखकर नहीं बनायी जाती।

पक्की ईंटों के उपयोग की बात भी उपर्युक्त सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिए की गयी है जो तर्कसंगत नहीं है। प्रथमतः धूप में सुखायी गयी ईंट भी हड़प्पा शहर में प्रयोग की गयी थी। कभी-कभी ईंटें पक्की ईंटों के साथ क्रम से एक सतह के बाद दूसरी सतह पर प्रयोग की गयी हैं। द्वितीय, कई भवनों में धूप से सुखायी ईंटें ही प्रयोग की गयी हैं। तृतीय, पक्की ईंटों की इमारतों पर भी मिट्टी का पलस्तर किया गया है। अन्नागार जैसी महत्त्वपूर्ण इमारत में पक्की ईंटों का प्रयोग, बाढ़ के सुरक्षित करने के लिए ही किया गया होगा। सिन्धु की वर्तमान वर्षा से पाँच गुनी अधिक (अर्थात् 20" वार्षिक) वर्षा के क्षेत्र में भी कच्ची ईंटों का प्रयोग आज किया जाता है। अतः उपर्युक्त प्रमाण पुरैतिहासिक काल में अधिक आर्द्रता सिद्ध नहीं करते।

इस प्रकार स्थापत्य, पशु व वनस्पति पर आधारित तथा अन्य प्रमाण यह स्पष्ट करते हैं कि पुरैतिहासिक से वर्तमान काल तक सिन्ध व पंजाब की जलवायु में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया। व्हीलर के मतानुसार बड़ी संख्या में जंगल काटने से हुए भूमि-स्खलन, मुख्य रूप से हड़प्पा के अंत के लिए उत्तरदायी थे। यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि ये मानसूनी वन न होकर केवल तटीय जंगल थे, जो कि बिना व्यापक वन-विनाश के, उनकी ईंटों के भट्टों की आवश्यकता पूरी करने के लिए पर्याप्त थे।

अतः हड़प्पा के अन्त के लिए जलवायु दोषी नहीं ठहरायी जा सकती। वस्तुतः पारिस्थितिकी ने ही हड़प्पा के नगरीकरण में सहायता की थी, तो क्या प्रकृति ने ही किसी अन्य ढंग से इस सभ्यता के नाश का षड्यंत्र भी रचा था?

यहाँ पर पराग-प्रमाणों के आधार पर की गयी, सिंह की हाल की खोजों का उल्लेख करना आवश्यक है। उन्होंने राजस्थान की कई झीलों की तलछट से पराग का अध्ययन (आरेख) करके पता किया कि लगभग 3000-1800 ई.पू. तक राजस्थान अधिक आर्द्र और हरा-भरा था। 1800 ई.पू. के बाद शुष्क जलवायु आरम्भ हो गयी। कालीचंगन की हड़प्पाकालीन बस्ती भी लगभग 1800 ई.पू. में उजड़ने लगती है। इस प्रकार एक बार फिर जलवायु के परिवर्तन के पक्ष में नयी सामग्री प्राप्त हुई है। आशा है कि इस क्षेत्र में भविष्य में किये जाने वाले कार्यों से यह स्पष्ट हो जायगा कि सिन्ध और पंजाब में जलवायु में, परिवर्तन, यदि हुए तो, कैसे हुए?

(ii) क्या बाढ़ हड़प्पा संस्कृति के अन्त का कारण थी?

जब एम.आर. साहनी ने सिन्धु की बाढ़ से मोहनजोदड़ों के अंत की बात कही तो किसी भी पुरातत्त्ववेत्ता ने उनकी बात गंभीरता से नहीं सुनी लेकिन जब राइक्स ने इसी सिद्धान्त को जोर देकर पुनर्जीवित किया तो पुराविदों में सनसनी फैल गयी। लगता था कि यह सिद्धान्त सर्वमान्य हो गया, परन्तु धीरे-धीरे आपत्तियों व शंकाओं ने गंभीर रूप धारण करके इसे फिर संदिग्ध बना दिया।

राइक्स ने प्रारम्भ में ही हड़प्पा संस्कृति के सहस्र वर्ष के काल-विस्तार पर शंका व्यक्त की थी। मोहनजोदड़ों में पाये गये बाढ़ के प्रमाणों के आधार पर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सम्भवतः हड़प्पा का अंत किसी आकस्मिक प्राकृतिक प्रकोप, जैसे सिन्धु की बाढ़ का पानी फैलने, से हुआ।

डेल्स के मतानुसार सोत्काकोह और सुत्कगनडोर मूल रूप से बंदरगाह थे लेकिन अब ये समुद्रतट से सैकड़ों मील दूर हैं। मकरान तटीय विवर्तनिक उठान ही संभवतः इसका कारण हो सकती है। सिन्धु के दक्षिणी क्षेत्र में आम्री से चांहुदड़ों तक नदी के मुहाने तक कोई भी हड़प्पाकालीन बस्ती विस्तृत खोज के उपरान्त भी नहीं मिली। इन्हीं कारणों से राइक्स इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि हड़प्पा काल में ये क्षेत्र पानी के अंदर थे। पर हम देखेंगे कि कम से कम भारतीय भाग में जो स्थल, राइक्स ने समुद्र के अंदर दर्शाये थे, वे ऊपर थे। जगतपति जोशी ने उत्तरी कच्छ में तत्कालीन हड़प्पा संस्कृति के बहुत से स्थल खोज निकाले हैं।

मकरान के समुद्र-तटीय प्रदेश में हवाई फोटोग्राफी द्वारा बहुत से ऊँचे उठे पुलिन देखे गये हैं, यद्यपि इनका काल निर्धारण नहीं हो पाया है। असरार उल्लाह ने अभी हाल में कुछ

आरेख 2 : राजस्थान की झीलों के तलछट से प्राप्त वानस्पतिक अवशेषों के आधार पर निर्मित तात्कालीन जलवायु की पुनर्रचना
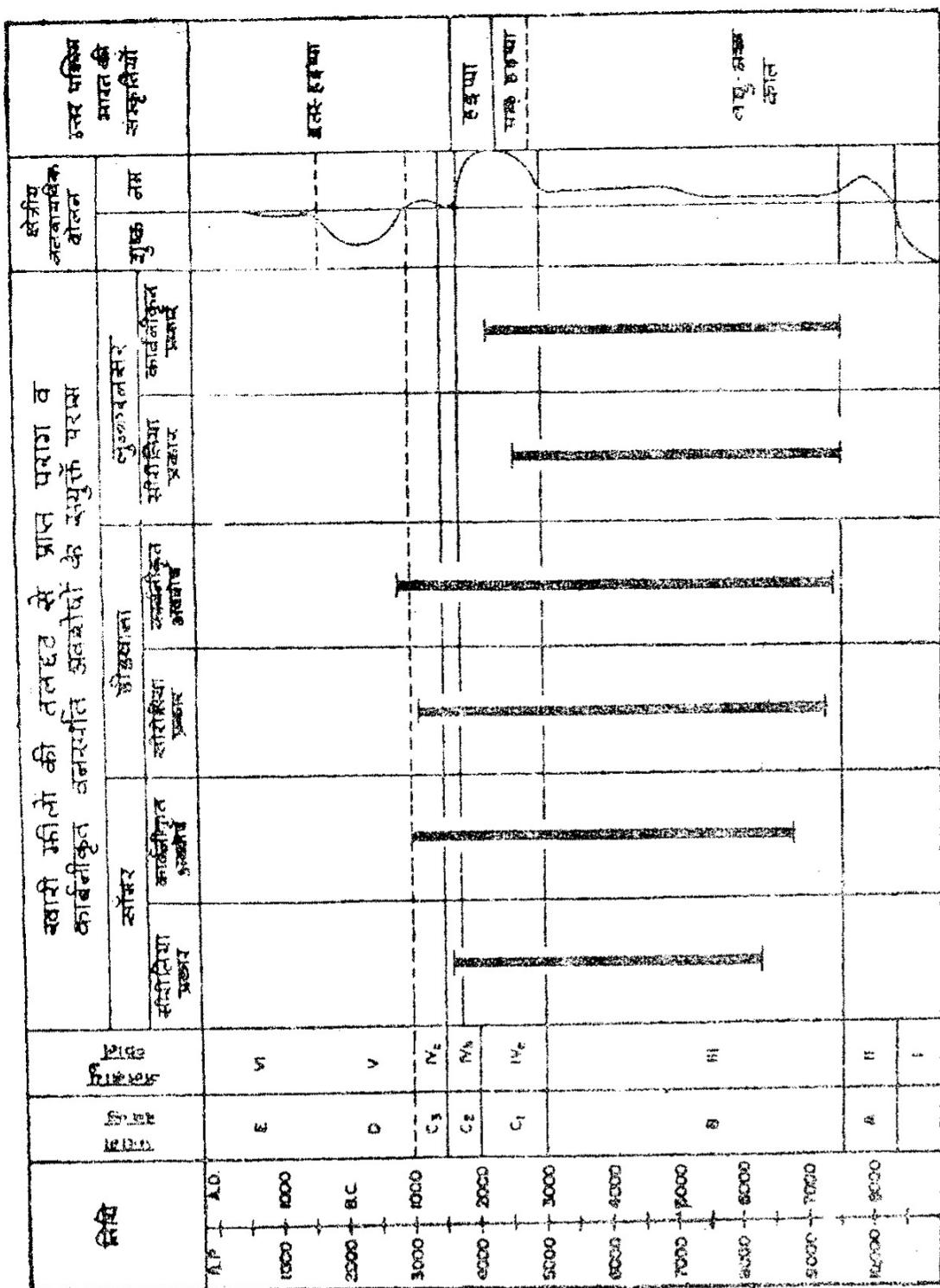
पुलिनों का तालमेल कुछ घाटियों के पार्श्वतलों से बैठाया है क्योंकि अभी तक किसी भी पार्श्वतल ने क्षरण-चक्र पूरा नहीं किया। स्पष्ट है कि वे बहुत प्राचीन नहीं हैं। राइक्स के मतानुसार निंदोवारी का अंत विवर्तनिक भू-उठान के परिणामस्वरूप उसके जल-पूर्ति के साधनों के क्षतिग्रस्त हो जाने से हुआ होगा। प्रारम्भ में राइक्स ने हड़प्पा संस्कृति का अंत विवर्तनीय उत्थानों द्वारा माना था लेकिन बाद में उन्होंने एक नया सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि बाढ़ ने हड़प्पा संस्कृति का विनाश किया। पर उनके अनुसार अंततः परोक्ष रूप से विवर्तनीय उत्थान ही इस विनाश का कारण रहा है।

1964-65 में डेल्स और रांइक्स ने मोहनजोदड़ों की प्राचीन बाढ़ों का अध्ययन किया और पाया कि जल निक्षेपित सामग्री व कच्ची ईंटों के भराव, बाढ़ के फैलाव के स्तर से 29 फीट की ऊँचाई तक विभिन्न स्तरों पर पाये गये हैं। उन्होंने तीन विभिन्न क्षेत्रों (एच.आर.. क्षेत्र और महल के क्षेत्र) में बर्मे से अन्वेषणात्मक छेद किये। उनके अनुसार बाढ़ के फैलाव के स्तर से 8 फुट की गहराई तक गाद मिट्टी, बस्ती के मलवे के साथ क्रमहीन रूप से मिलती है। एच.आर. और महल के क्षेत्र में यही सामग्री बाढ़ के मैदान से 50 फुट नीचे गहराई तक मिली। उन्होंने मंचार झील, झूकड़ और आम्री के क्षेत्रों का भी अध्ययन किया था।

उन्होंने बाढ़ से निक्षेपित सामग्री का विश्लेषण किया लेकिन पिगट के स्तरीकरण में दर्शाये गये बाढ़ के स्तर कहीं नजर नहीं आये। उनके अध्ययन और कुछ नवीन खोजों से प्राप्त तथ्यों ने सिद्ध कर दिया कि वहाँ केवल तीन मुख्य स्तर+155.5 और + 158.5, + 168.5 और +170, और +175.2 और +176.7 फुट के बीच थे। जहाँ पर 1.5 फुट या अधिक अंतर पर बाढ़ स्तर का कोई चिह्न नहीं है। राइक्स के मतानुसार उपर्युक्त प्रमाण उनके मौलिक अनुमानों के विपरीत नहीं जाते क्योंकि यह अवस्था सिन्धु के विवर्तनीय उत्थानों के कारण अवरुद्ध हो जाने से पानी, झील की तरह फैल गया होगा। इसलिए ऐसे ही निक्षेपण की ही अपेक्षा थी।

राइक्स के मतानुसार भूमि के उत्थान से निर्मित बाँध कई मील लम्बा होगा जिसमें से नदी का पानी छनकर आता होगा। पानी के लगातार रिसते रहने से पानी का स्तर गाद स्तर से अधिक ऊँचा नहीं होता होगा। इस प्रकार आप्लावन तभी होता होगा जब गाद स्तर बाँध की ऊँचाई तक पहुँच जाता होगा। इतनी ऊँचाई तक पहुँचने के लिए उनके अनुमान से 100 साल या अधिक लग जाते होंगे। स्पष्ट है कि इस प्रक्रिया के पूर्ण होने तक मोहनजोदड़ों व अन्य स्थल गहरे पानी में डूबे रहे होंगे।

बाढ़ या अन्य कारणों से एक बार आप्लावन शुरू हो गया तो सिन्धु के जल-प्रवाह का पुनर्युवन शुरू हो जाता होगा। केवल 100 वर्ष काल की गादीकरण प्रक्रिया हड़प्पा संस्कृति के काल की गादीकरण प्रक्रिया, हड़प्पा संस्कृति के काल-विस्तार के लिए छोटी है। अतः राइक्स ने एक से अधिक उत्थानों की संभावनाओं को माना।

मोहनजोदड़ों के उत्खनन के प्रमाणों के आधार पर डेल्स इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ऐसे पाँच या इससे अधिक प्रक्रिया-क्रम हुए होंगे। उनके मतानुसार कच्ची ईंटों के विशाल चबूतरों व दीवारों पर पक्की ईंटों के आवरण बाढ़ की रोक के लिए बनाये गये होंगे।

अब विवर्तनयी उत्थान की विवेचना करें। जिस प्रकार के कीचड़ के प्रवाहों ने सिन्धु को अवरुद्ध किया, उसी प्रकार के प्रवाहों से हाला और हारो पहाड़ों जैसी चोटियाँ जो रेखिक कीचड़ प्रवाहों से बनी हैं, अतिनूतन-मध्यनूतन चट्टानों के नति लंबी सर्पण भ्रंशों (Strike slip fault) से सम्बन्धित हैं। स्नीड ने बलूचिस्तान में इन प्रवाहों के भूवैज्ञानिक कारण खोज

निकाले हैं। राइक्स ने सेहवान क्षेत्र में भी अतिनूतन और मध्यनूतन चट्टानों की इसी प्रकार की प्रक्रियाओं के प्रमाण पाये।

राइक्स, स्नीड के स्थापनाओं के आधार पर, इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इसी प्रकार के भूवैज्ञानिक कारण सिन्धु-क्षेत्र में भी वर्तमान थे और इन कीचड़ प्रवाहों ने ही सिन्धु को अवरुद्ध किया।

आम्री में भूमि उत्थान के कोई आसार नहीं हैं, यह संभवतः वर्तमान स्तर +112.0 फुट पर स्थित है। वहाँ गादीकरण का भी कोई चिह्न नहीं पाया जाता, मिले घोघों में 90 प्रतिशत समुद्री हैं। अतः राइक्स इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि पूर्व हड़प्पा काल में आम्री ज्वारनद मुख (estuary) रहा होगा। हड़प्पा के प्रारम्भिक काल में इन नदी घोघों की संख्या बढ़ती गयी और इस काल के अन्त तक उनकी और समुद्री जातियाँ के घोघों की संख्या बराबर हो गयी।

राइक्स ने अपने सिद्धान्त का समापन इन शब्दों में किया, 'बाढ़ के प्रमाणों की यह व्याख्या भूतत्त्वीय व जलवैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर की गयी है और पुरातात्त्विक तथ्यों से मेल खाती है। सेहवान के पास सिन्धु उपत्यका के एक या अनेक उत्थानों ने एक ऐसा पारगम्य अवरोध खड़ा कर दिया जिसमें से अधिकांश पानी तो रिस सकता था, परन्तु पिंड रुक जाते थे। इस प्रकार मोहनजोदड़ों व सिन्ध के दूसरे स्थल धीरे-धीरे इस कीचड़ में डूबते चले गये।'

राइक्स और डाइसन ने हड़प्पा संस्कृति के अन्त के सम्बन्ध में एक मौलिक सिद्धान्त प्रस्तुत किया जो कि इस समय पुराविदों में गंभीर विवाद का विषय बन गया है। अतः इस सिद्धान्त का उपर्युक्त विश्लेषण अनिवार्य था और इसलिए भी कि इतनी विशाल झील यदि बनी होती तो उसने इस क्षेत्र की पारिस्थितिकी पर भी गहरा प्रभाव डाला होता।

कजाल के प्रश्न पर कि यह सर्वव्यापी गाद मोहनजोदड़ों के तथाकथित विभिन्न स्तरों में समान रूप से क्यों नहीं एकत्र हुई, राइक्स ने उत्तर दिया कि इस गाद के उठने की दर लगभग 2.9 इंच प्रतिवर्ष औसत की रही होगी। इन परिस्थितियों में वहाँ ठहरने वाले दृढ़प्रतिज्ञ लोगों को कई वर्षों में अपने मकानों के स्तरों को ऊँचा उठाने की आवश्यकता पड़ी होगी। जो निराश हो गये वे अपनी सम्पत्ति छोड़कर अन्यत्र चले गये। अतः मोहनजोदड़ों में वही भाग धीरे-धीरे कीचड़ में डूबते रहे जिनके स्वामियों ने कच्ची ईंटों के चबूतरे नहीं बनाये।

लैंब्रिक ने राइक्स के सिद्धान्त पर गंभीर शंकाएँ उठायी हैं। उन्होंने कहा कि गादीकरण का मुख्य क्षेत्र उस स्थल से कहीं ऊपर रहा होगा, जहाँ प्रवेश करती हुई सिन्धु, पहले से ही पानी से भरी झील से मिलने पर धीमी पड़ती होगी। विचारणीय है कि सघन निक्षेप का क्षेत्र इस प्रकार निरन्तर घाटी के ऊपर की ओर बढ़ता गया होगा। जबकि इसके पूर्व ही नदी के ऊपरी भाग में मीलों तक गाद-निक्षेप मुख्यतः पूरा हो चुका होगा।

ऐसा पारगम्य मिट्टी का बांध एक तंग अग्र से 50,0000 घन फुट प्रति सेकेंड की दर से प्रवाहित होने वाले पानी के सामने टिक नहीं सकता था। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि नारा में 1819 के भूकम्प से बना अल्लाह बंद नामक बाँध 1826 की जरा सी बाढ़ आ जाने से बह गया।

इन तर्कों से स्पष्ट होता है कि राइक्स का बाँध 100 फुट के स्तर तक सरोवरी गाद-निक्षेप की प्रक्रिया से भर नहीं सकता था। इस प्रकार मोहनजोदड़ों में ऊँचाई पर पायी गयी गाद इस रीति से प्रक्षेपित नहीं हुई होगी। यदि इतनी ऊँचाई पर गादीकरण मान भी लिया जायँ तो ऐसी पारगम्यता में बाँध का नामोनिशान भी कैसे समाप्त हो गया होगा? लैब्रिक बाँध के बार-बार कटाव को वास्तविक नहीं मानते। संभवतः कोलोइडल मिट्टी ने बाँध को बन्द कर इसके कटाव को रोक दिया होगा।

लैब्रिक इस तर्क से सहमत नहीं है कि सिन्धु ऐसे खड़े ढाल में (1 में 3500) बह सकती थी। यदि उस जलोढक का संघटन वर्तमान काल के समान था तो सिन्धु को 1 में 10500 जैसे विकट ढाल में बहने के लिए सर्वनाशी दोलनों (Oscillation) में पड़ना पड़ता। लैंब्रिक ने सिन्धु के वर्तमान जलोढक और बहने के ढलान का अध्ययन किया है, उनके अनुसार राइक्स के अनुमान और सिन्धु का प्रवाह-व्यवहार एक दूसरे से मेल नहीं खाते। लैंब्रिक के विचार से मोहनजोदड़ों में तथाकथित गाद-निक्षेप वस्तुतः कच्ची ईंटों या वायूढ मिट्टी के वर्षा से चूर-चूर हुई-संपिंडन के तदनंतर इमारतों के दबाव से हुआ होगा।

पोस्सेहल के मतानुसार राइक्स के द्वारा अनुमानित 150 मील लंबे बाँध के अवशेष अवश्य मिलने चाहिए। सेहबान पर स्थित ऐसे बाँध ने मंचार झील तक को (अपने समान स्तर तक) भर दिया होगा। पर इस क्षेत्र से प्राप्त बहुत से हड़प्पाकालीन स्थलों के मिलने से इस तर्क की पुष्टि नहीं होती। अग्रवाल ने भी निम्न शंकाएँ व्यक्त की थीं। राइक्स ने स्वयं स्वीकार किया है कि सिन्धु तटीय जंगल गादीकरण काल में नष्ट होकर नदी के तदनंतर पुनर्युवन काल में पुनः न पनप सके होंगे। उनके अनुसार मोहनजोदड़ों का पूर्व व मध्यकाल गादीकरण के दौर से गुजरा होगा। डेल्स ने पाँच या अधिक गादीकरण-पुनर्युवन की प्रक्रियाओं को माना है और प्रत्येक प्रक्रिया के लिए 100 वर्ष की अवधि मानी है जो केवल अटकल मात्र है।

यह असंभव लगता है कि मोहनजोदड़ों के कुछ दृढ़प्रतिज्ञ लोग हमेशा चारों ओर फैले पानी के बीच घरों को ऊँचा करके रहते थे। यदि ऐसा हुआ होता तो सड़कों का क्या हुआ होता? क्या वे भी ऊँची उठायी गयीं? या हड़प्पावासी सदैव कीचड़ और पानी में ही चलते रहे? ऐसी स्थिति में क्या यातायात संभव था? आवागमन के लिए क्या कोई बैलगाड़ी चलायी जा सकतीं थी?

ऐसी स्थिति में जंगल हमेशा के लिए नष्ट हो जाते। फलस्वरूप जंगली पशु भी नष्ट हो जाते या दूसरे स्थानों को कूच कर देते। शिकार की संभावनाएँ ही समाप्त हो जातीं और

न छिछले पानी में मछलियों की आशा की जा सकती थी। इस प्रकार खाद्य व मांस की उपलब्धि पूर्णतः असंभव हो गयी होती।

30 से 150 मील लंबी झील में न तो कोई फसल उग सकती थी और न यातायात ही संभव था। ऐसी स्थिति में गंदे पानी का निकास कैसे हो पाता? अतः थोड़े दिन भी मानव का रहना कठिन हो जाता। क्या एक महान् सभ्यता उपर्युक्त विकट व विषम परिस्थितियों में जीवित व विकसित हो सकती थी? जो लोग सुनियोजित शहरों को जन्म दे सकते थे क्या ऐसे पारगम्य मिट्टी के बाँध को तोड़कर अपनी सारी समस्याओं का हल सदैव के लिए नहीं ढूँढ सकते थे? इस प्रकार राइक्स का सिद्धान्त हड़प्पा के विनाश की व्याख्या करने के प्रयास में इस सभ्यता के प्रादुर्भाव व अस्तित्व को ही असंभव बना देता है।

(ख) अतिरिक्त पैदावार और नागरीकरण

बाढ़ की उपजाऊ मिट्टी ने शहर के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। कुछ वर्ष पूर्व तक लरकाना जिला (मोहनजोदड़ों के आसपास का क्षेत्र) बहुत उर्वर माना जाता था, वस्तुतः हड़प्पाकाल में स्थिति और भी अच्छी रही होगी। हिम के द्रवीकरण से सिन्धु की बाढ़ के पानी में अंतर नहीं आया होगा। पर वनस्पति के कारण जल-वाह के घटने से मानसूनी बाढ़ पर असर पड़ा होगा। फलस्वरूप तत्कालीन बाढ़-प्रवृत्ति, आज की अपेक्षा कम परिवर्तनशील रही होगी। यहाँ की उपजाऊ मिट्टी खूब गहराई तक पानी को सोख रखने की क्षमता के कारण अन्न उत्पादन के लिए बहुत उपयोगी हो गयी। इस प्रकार मैदान अन्न के भण्डार बन गये।

सिन्धु घाटी की बढ़िया, उपजाऊ नर्म मिट्टी के लिए भारी फलों वाले हलों की आवश्यकता न थी। खुदाई में अब तक हल का ऐसा फल मिला भी नहीं। संभवतः पतली लम्बी कुल्हाड़ी और कुदाली (लकड़ी की मूठ लगाकर) हल के स्थान पर प्रयोग की जाती थी। पतले लंबे चर्ट फलक अक्सर बड़ी चमक लिए हुए पाये गये हैं। कोई आश्चर्य नहीं यदि इनका प्रयोग भी लकड़ी की नोक पर लगाकर हल-फलक की तरह किया जाता रहा हो। अनाज की ढुलाई के लिए बैलगाड़ियाँ व एकत्र करने के लिए विशाल अन्नागार थे।

अतिरिक्त कृषि उत्पादन ने विभिन्न दस्तकारियों को जन्म दिया। अब पूरा समय दस्तकारी को देने के फलस्वरूप शिल्पकार अपने कार्य के विशेषज्ञ बन गये। उनकी खाद्य पूर्ति अतिरिक्त कृषि उपज से होने लगी। अधिक औजारों के कारण व्यापक कृषि-कर्म व इसके फलस्वरूप अधिक अतिरिक्त कृषि उत्पादन संभव हुआ। इस अतिरिक्त उत्पादन ने धातु उद्योग को और प्रोत्साहन दिया। विकास की इस प्रक्रिया के फलस्वरूप इतना अधिक उत्पादन हुआ कि उसने नागरीकरण और सभ्यता को जन्म दिया।

तटीय जंगलों व घास के मैदानों से वन्य जन्तु व नदियों से प्रचुर मात्रा में मछलियाँ उपलब्ध हुई होंगी। ईंटों को पकाने के लिए कंडी और झाऊ के वृक्षों का प्रयोग किया गया। ताबूत और अन्य महत्त्वपूर्ण वस्तुएँ बनाने के लिए चीड़ व देवदार की लकड़ी संभवतः नदियों द्वारा हिमालय से लायी जाती थी।

सभ्यता का विकास और उसका निर्वाह मुख्य रूप से शक्ति उत्पादन के साधनों के सघन उपयोग पर निर्भर करता है। प्राप्त प्रमाणों के अनुसार हड़प्पावासी वायु-शक्ति का उपयोग पालदार नावों को चलाने के लिए करते थे। उन्होंने पशुधन का भी व्यापक उपयोग किया, संभवतः भारत में पशुओं को पवित्र मानने की प्रथा का जन्म भी हड़प्पा काल में हुआ। चौपाये, कृषि व यातायात दोनों के लिए अति आवश्यक थे। घास के विस्तृत मैदानों के कारण गाय-बैलों की संख्या में वृद्धि हुई। संभवतः यह वृद्धि पश्चिमी व भारतीय नस्लों के चौपायों के संकरण से हुई। फेयरसर्विस द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त के अनुसार हड़प्पा काल में मानव व पशु के बीच इष्टतम सहजीवन संभव हो गया था, जिसके कारण कृषि व व्यापार का तेजी से व्यापक विकास हुआ, पशुओं के प्रचुर उपयोग से नगरीकरण की गति को उल्लेखनीय तीव्रता प्रदान की।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इष्टतम पारिस्थितिकी विकसित तकनीकी ज्ञान, पहिए का शीघ्रगामी परिवहन के लिए उपयोग, प्राकृतिक शक्ति स्रोतों का सदुपयोग आदि कारणों ने मिलकर सभ्यता को जन्म दिया।

हड़प्पा संस्कृति के विकास के सही कारणों का अब तक ठीक से ज्ञान नहीं हो पाया है। लेकिन यह स्पष्ट है कि वह एक विशेष पारिस्थितकी में फली फूली। हड़प्पा संस्कृति का विस्तार सिन्ध, पंजाब, राजस्थान; दोआब, कच्छ व गुजरात के अधिकांश भाग की पारिस्थितिकी के अनुरूप था। कुछ अज्ञात कारणों से हड़प्पा संस्कृति के लोग इस विशेष पारिस्थितिकी क्षेत्र के अधिकेन्द्र से निकल कर बाहरी परिधि की ओर जाने के लिए मजबूर हुए। जब तक पारिस्थितिकी वही रही वे फले-फूले परन्तु दोआब के घने जंगलों और भारी वर्षा के नये क्षेत्र में पहुँचते ही इस संस्कृति का विलय हो गया।

(iii) राजस्थान

थार सहित राजपूताना का रेगिस्तान करीब 4-5 लाख वर्गमील में फैला था। यहाँ कुओं के पानी में नमक की अधिकता से, गौडबोले इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह क्षेत्र हड़प्पा काल में समुद्र के अन्दर था। पर अमलानन्द घोष ने राजस्थान में हड़प्पाकालीन स्थल ढूँढ़ निकाले, जो उपर्युक्त मत के विरुद्ध पड़ते हैं।

अमलानंद घोष ने प्राचीन दृषद्वती (वर्तमान चौटांग) व सरस्वती (वर्तमान घग्गर) नदियों के किनारे ढूँढ़ निकाले। आजकल ये नदियाँ लगभग विलुप्त हो चुकी हैं। सरस्वती में नैवाला नाला मिलता है जो कि प्राचीनकाल में सतलज नदी का सहायक था। दृषद्वती भी सूरतगढ़ के पास सरस्वती से मिलती है। संभवतः सरस्वती व इसकी सहायक नदियाँ अपने जीवन काल में स्वतंत्र रूप से या सिन्धु की सहायक के रूप में अरब सागर में गिरती थीं।

घोष ने बताया कि हड़प्पा स्थल, घाटियों के बीच की अपेक्षा, कछार में मिलते हैं। लेकिन कालांतर में पानी उत्तरोत्तर कम होता गया और बस्तियाँ तदनुसार उनके निकट बसती गयीं ताकि उन्हें जल आसानी से उपलब्ध हो सके।

हड़प्पा व पूर्व हड़प्पाकालीन बस्तियाँ दृषद्वती नदी के किनारे पायी गयीं। तत्पश्चात एक सहस्र वर्ष के लम्बे विराम के बाद सरस्वती घाटी में चित्रित धूसर भांड* संस्कृति के लोगों का अभ्युदय हुआ। पुनः एक सहस्र वर्ष के पश्चात् रंगमहल संस्कृति की उत्पत्ति इस क्षेत्र में हुई। इस प्रकार हम देखते हैं कि हड़प्पा संस्कृति का अंत 1700 ई.पू. हुआ – लगभग एक सहस्र वर्ष पश्चात् 700-800 ई.पू. चि.धू. भांड संस्कृति का और तत्पश्चात् एक सहस्र वर्ष बाद 300-400 ई. के लगभग रंगमहल संस्कृति का प्रादुर्भाव। इन संस्कृतियों के बीच के काल की अन्य किसी संस्कृति की बस्तियाँ इस क्षेत्र में नहीं मिलतीं। मानव जीवन के लिए पानी की पूर्ति अनिवार्य है। एक सहस्र वर्ष के विराम के पश्चात् इन बस्तियों का पुनः प्रादुर्भाव क्या किसी जलवायु के चक्र को दर्शाता है, जिसके फलस्वरूप वे हर एक सहस्र वर्ष बाद मानव के अनुकूल हो जाती थीं?

अब प्रश्न है कि राजस्थान का रेगिस्तान कितना पुराना है? घोष ने महाभारत से प्रमाण उद्धरित करके बताया कि यह 200 ई. में रेगिस्तान हो चुका था। किन्तु तीसरी और
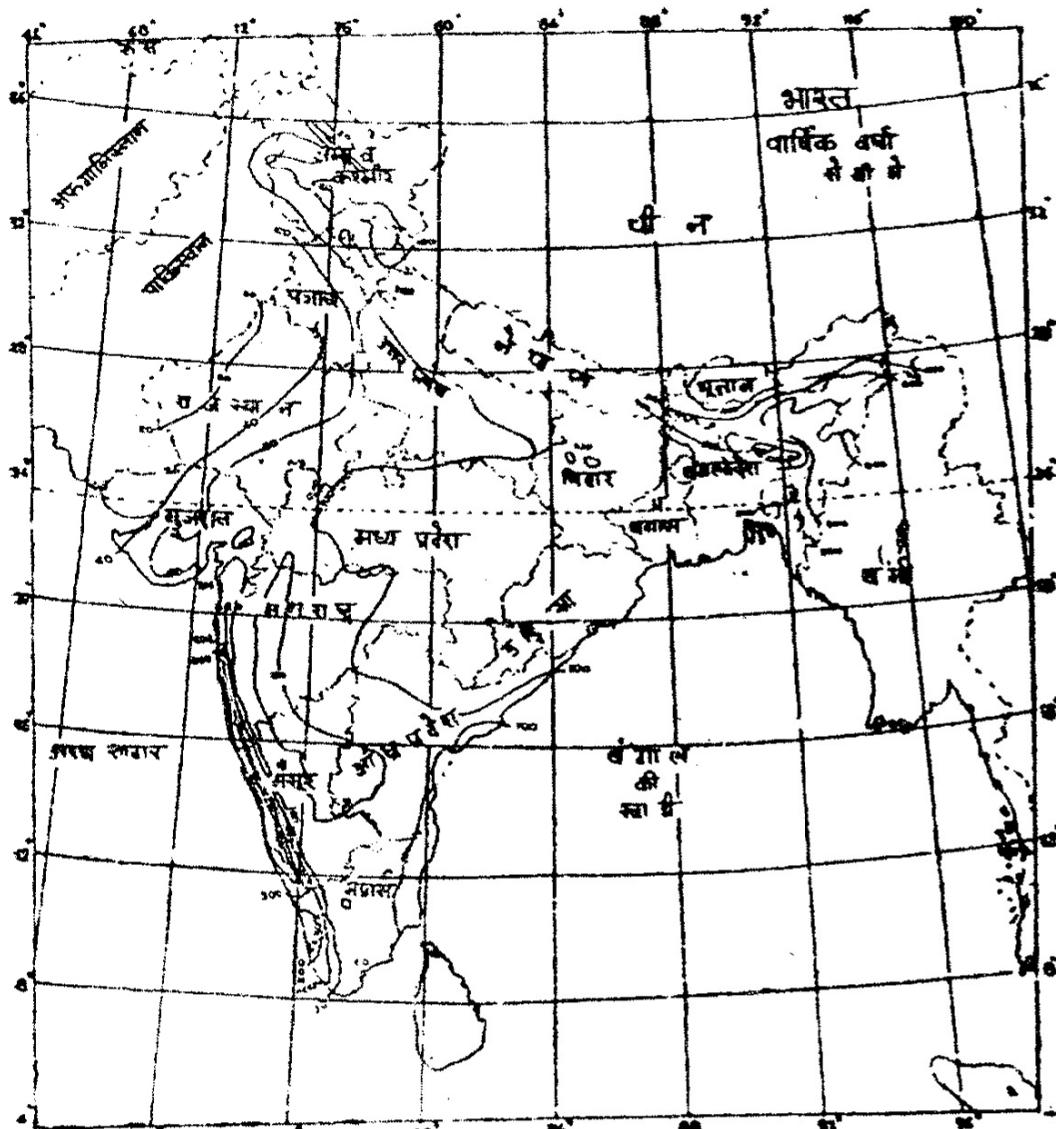
आरेख 3 : भारत में वार्षिक वर्षा का वितरण

चौथी शती के रंगमहल संस्कृति के भग्नावशेष यहाँ पर विस्तृत पैमाने पर मिलते हैं जिससे हम अनुमान लगा सकते हैं कि उस काल में यह क्षेत्र मानव के अधिक अनुकूल था। ब्राईसन और बैरीज के मतानुसार यह रेगिस्तान थार तक 1000 ई.पू. फैला। राजस्थान के रेगिस्तान की जलवायु परिवर्तन पर सिंह का मत पहले दिया जा चुका है।

उपर्युक्त विश्लेषणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि हड़प्पा व चि.धू. भांड काल में यहाँ की जलवायु मानव जीवन के अधिक अनुकूल रही होगी, और यहाँ की नदियाँ सदानीरा। हड़प्पा काल में सिन्धु व इस क्षेत्र की पारिस्थितिकी एक सी ही रही होगी। सरस्वती, सिन्धु की ही सहायक थी। अतः हड़प्पा संस्कृति इस क्षेत्र में भी फैल सकी। कालांतर में सतलज, जो सरस्वती की सहायक थी, व्यास से जा मिली और सिन्धु में प्रवाहित होने लगी। अत्यधिक आबादी और चरागाहों की अत्यधिक चराई के कारण सम्भवतः मानव, पशु व वनस्पति आवरण कम होते गये। धूल की परतें उनका स्थान लेती गयीं और वर्षा निरन्तर कम होती गयी। यह निर्विवाद है कि राजस्थान का रेगिस्तान मानव कृत है। हीरा ने कहा था, 'राजस्थान रेगिस्तान प्रधानतः मानव कृत है, मानव द्वारा जंगलों को काटने व जलाने से जमीन का क्षय हो गया।'

सतलज के मार्ग परिवर्तन करने, चरागाहों के उजड़ने, जंगलों के काटने व जलाने आदि के फलस्वरूप वर्षा कम होती गयी। सरस्वती स्वयं सूखती गयी। दूसरी ओर सिन्ध के अर्द्धशुष्क क्षेत्र में सिन्धु नदी उपजाऊ मिट्टी फैलाती रही और सींचती रही।

(iv) दोआब

गंगा और उसकी सहायक नदियों का जलोढक मैदान दोआब कहलाता है। इसकी गहरायी 15000 फुट है जो कि हिमयुग की देन है। सहस्रों वर्षों से इन घने मानसूनी जंगलों को काटकर ये मैदान बने। यह क्षेत्र 25"-40" वार्षिक वर्षा के क्षेत्र में आता है (आरेख 3)। पुरानी जलोढ भूमि कंकरीली थी अतः बिना लोहे के भारी हलके फलों से जोतना असंभव था। प्रारम्भ में यह सारा क्षेत्र साल के जंगलों में आच्छादित था जो कि अब केवल पहाड़ी ढालों व तराई में बचे हैं। स्टेविंग ने भी इस क्षेत्र में प्राचीन घने जंगल होने का वर्णन अपने प्रामाणिक ग्रन्थ 'भारत के जंगल' में किया। सिंह के मतानुसार 4000-2000 ई.पू. के बीच दोआब के किनारे मानसूनी जंगल और दलदल फैले थे। के.एम. पण्णिकर का मत है कि रामायण काल में इन मैदानों का उपनिवेशन पूर्ण रूप से नहीं हुआ था। दोआब के घने जंगलों में महर्षियों मुनियों के आश्रम थे। बाथम के कथनानुसार आर्यों का प्रवेश-मार्ग, नदियों से न होकर (जिनके तट पर संभवतः घने जंगल व दलदल थे) हिमालय की तलहटियों से होकर था। यहाँ तक कि मुगल काल में भी विशाल जंगलों का वर्णन शिकार के सिलसिले में आया है। कौसंबी के मतानुसार भी गंगा की घाटी की अत्यधिक उपजाऊ मिट्टी, अधिक वर्षा के कारण जंगलों से आच्छादित थी।

प्राप्त अवशेषों में जंगली शीशम (Dalbergia sissoo) और कुर्ची (Holarhena

antidysentrica) के प्रमाण दर्शाते हैं कि जलवायु में तब से अब तक विशेष परिवर्तन नहीं आया। जंगली नेवाल व चावल का भी पता लगा है। बृजवासी लाल द्वारा प्राप्त हस्तिनापुर के छह मिट्टी के नमूनों में से चार परागपूर्ण थे, परन्तु चीड़ के अलावा अन्य कोई नमूने पहचाने नहीं गये। यद्यपि दोआब में प्राचीन काल में घने जंगल होने के विभिन्न प्रमाण निर्णयात्मक हैं, तो भी पराग विश्लेषण से ही तत्कालीन वनस्पति वैभिन्य का पूर्ण ज्ञान हो सकता है। हस्तिनापुर से प्राप्त काटी व पकाई हुई हड्डियों से स्पष्ट होता है कि वे लोग गाय, बैल, हिरन व सुअर का मांस खाते थे।

चाँवल हस्तिनापुर में चि.धू. भांड कला से, नवदाटोली में काल II-IV के स्तर से व रंगपुर व लोथला से भी प्राप्त हुआ है। जंगली चावल मध्य भारत व राजपूताना आदि में होता था। अतः सम्भवतः सौराष्ट्र के हड़प्पा संस्कृति के लोगों व नवदाटोली वासियों ने इसके प्रयोग की शुरूआत कर दी थी।

हस्तानापुर से प्राप्त घोड़े के अवशेषों से उसे गायों से संबंधित माना गया था। पर मोहनजोदड़ों के ऊपरी स्तर से घोड़े की हड्डियाँ व घोड़े के सिर की मृण्मूर्ति मिलीं। रॉस ने राना घुण्डई के निम्नतम स्तर से घोड़े के चार दाँत खोज निकाले थे। अतः स्पष्ट है कि पूर्व हड़प्पा व हड़प्पा-काल में घोड़ा प्रयोग होता था। अतः घोड़े अथवा चावल की खेती के आधार पर आर्यों का किसी संस्कृति से संबंध जोड़ना गलत है।

उपर्युक्त प्रमाण स्पष्ट करते हैं कि मूलतः दोआब का मैदान घने जंगलों व कंकड़ी मिट्टी का क्षेत्र था। केवल अतरंजी खेड़ा व हस्तिनापुर से चि.धू. भांड के स्तरों से लौह उपकरण मिले हैं। इसमें संदेह नहीं कि चि.धू. भांड कालीन मानव ने ही लौह उपकरणों से दोआब को आबाद करना प्रारम्भ किया होगा। लेकिन बड़े पैमाने पर कृषि उत्पादन बिहार से बहुतायत से प्राप्त लौह उपकरणों द्वारा एन.बी.पी. युग में ही संभव था। इस क्षेत्र में 500 ई.पू. से पहले नगरों का अस्तित्व संभव न था। लौह प्रचुरता ने ही नागरीकरण को इस युग में संभव बनाया।

दोआब की आर्द्र बने वनों वाली पारिस्थितिकी में हड़प्पा संस्कृति वाले पनप न पाये। अतः वे दोआब के पश्चिमी क्षेत्र तक ही सीमित रह गये। अब तक प्राप्त ताम्र संचय स्थल चौरस मैदानों में मिले हैं न कि टीलों पर। यह ताम्र संचय युगीन मानव का घुमक्कड़ जीवन का ही द्योतक है। उनके केवल मिट्टी के बर्तन भी इसी मत की पुष्टि करते हैं। लकड़ी काटने के लिए कुल्हाड़ी, मछली व बड़े शिकार के लिए बर्छी, पक्षियों को मारने के लिए मानव कृत अस्त्र व बड़े शिकार को पकड़ने के लिए दुसिंगी तलवार आदि उनके घुमक्ड़ जीवन के अनुरूप थे। लेकिन केवल ताम्र अस्त्रों से (तकनीक से) इन विशाल घने बनों को साफ कर कृषि योग्य बनाना, संभव न था। यह तभी संभव हुआ जब लोहे की खोज हुई और उसके उपकरण बनने लगे।

व्हीलर ने दोआब के विषय में एक बार कहा था, 'हिन्दुस्तान का कोई भी क्षेत्र इतनी

शवाधान में शव का पूर्वाभिमुखीकरण मिलता है। ये अपूर्ण शवाधान हैं। क्योंकि उनका ऊपरी भाग नहीं मिलता। काल II में एक पक्की गली के पार्श्व में दो मकान मिले हैं। मकानों में सुव्यवस्थित विन्यास है। काले-लाल, चित्रित लाल और चमकीले लाल भाण्ड मिलते हैं। चित्रण काले या सफेद रंगों से किया गया है। घुटी मिट्टी का प्रयोग इनमें किया गया है और रचना कुशलता से की गयी है। डिजाइन ठोस त्रिकोण वाले, जालीदार, रेखा-छायाएँ, समचतुर्भुज सिग्मा और साथ में लहरदार रेखाएँ वाले हैं। दासगुप्ता के मतानुसार फूलदार टोंटी, पाँव वाले कुल्हड़ और हत्थेदार बर्तनों की अलीसार ह्यक के साथ सादृश्य है। इस काल में विस्तारित द्वितीयक शवाधान मिलते हैं। शवाधानों से ताम्र चूड़ियाँ भी मिली हैं। इनके अतिरिक्त हड्डी के बाणाग्र और सूए भी मिले हैं। इस काल की रेडियोकार्बन तिथि 1012±120 ई.पू. निर्धारित की गयी है। यह समझा जाता है कि यह गणना हिन्दुस्तान की ही रेडियोकार्बन प्रयोगशाला में की गयी, जबकि ऐसी अन्य प्रयोगशाला (फिजीकल रिसर्च लेबोरेटरी, अहमदाबाद के अतिरिक्त) नहीं है। अभी हाल में हमें ज्ञात हुआ कि जादवपुर विश्वविद्यालय के किसी आचार्य ने यह गणना कोपेनहेगन की प्रयोगशाला में करवायी थी, परन्तु लोगों में भ्रम है कि शायद यह जादवपुर में ही की गयी थी। काल III में काल II के सदृश मृद्भाण्ड मिलते हैं। इस काल में घिसे हुए प्रस्तर-कुल्हाड़े व हड्डी के हथियार मिलते हैं। लौह उपकरण भी इस काल में लोकप्रिय हो गये थे।

अध्याय-3 : संदर्भिका

इस अध्याय विषयक मुख्य ग्रन्थ

D.P. Agarwal : The Copper Bronze Age in India, 1971 (Delhi).

D.P. Agarwal and A. Ghosh (Eds.) : Radiocarbon and Indian archaeology 1973, (Bombay).

B. and F.R. Allchin : Birth of Indian Civilisation, 1968 (Harmondsworth).

J.M. Casal : Fouilles de Mundigak, 1961 (Paris).

J.M. Casal : Fouilles de Amri, 1964 (Paris).

J.M. Casal : La Civilisation de Indus etses Enigmes, 1969 (Paris).

R.W. Ehrich : Chronology in Old World Archaeology 1965 (Chicago).

S. Piggot : Prehistoric India, 1961 (Harmondsworth).

H.D. Sankalia : Prehistory and Protohistory in India and Pakistan, 1962-63 (Bombay).

R.E.M. Wheeler : The Indus Civilisation, 2dn Ed., 1962 (Cambridge).

पूर्णता से परिवर्तित नहीं हुआ जितना कि यह क्षेत्र जिसमें कृषि-भूमि जंगलों को हड़पती चली गयी। इसलिए इतिहासकारों को पहले उस सघन महावनों की परिकल्पना करनी चाहिए जिसमें ये संस्कृतियाँ पनपीं।'

(v) मध्य देश और दक्षिणी पठार

इस क्षेत्र के अन्तर्गत सतपुड़ा की पहाड़ियाँ, मालवा, बघेलखंड और छोटा नागपुर आते हैं। जहाँ अभी भी आदिवासी रहते हैं। पहाड़ियों की ऊँचाई समुद्र से 300 से 400 मीटर तक है। सुब्बाराव ने इस क्षेत्र को शाश्वत मानवी आकर्षण केन्द्र के अन्तर्गत रखा है। वर्तमान काल में काली मिट्टी की उपजाऊ शक्ति से प्रभावित होकर ही उन्होंने उपर्युक्त विचार बनाये होंगे। कपासी काली मिट्टी की परतों के साथ अधिकांश भाग चट्टानी है। यह मिट्टी संभवतः वनस्पति क्षय से बनी हो। मजूमदार के मतानुसार जिस भूमि पर नवदाटोली वासी बसे थे वह भूरी गाद के अपक्षय से बनी है। यद्यपि काली मिट्टी काफी उपजाऊ है पर इसकी तुलना दोआब की उपजाऊ भूमि से नहीं हो सकती। नर्मदा, ताप्ती गोदावरी आदि बड़ी नदियों के होते हुए भी यह क्षेत्र घना आबाद नहीं है, क्योंकि नदियाँ पठारों से गुजरती हैं। लेकिन गोदावरी के उपजाऊ डेल्टा में घनी आबादी है।

ताम्राश्मीय युगीन मानव अपने अल्प ताम्र प्राप्ति व तकनीकी ज्ञान से कठोर काली कपासी धरती को नहीं जोत सकता था। इस कार्य के लिए भारी व तीखे लौह उपकरणों की आवश्यकता थी। कृषि नर्मदा और बेतवा के तंग जलोढ पट्टियाँ तक ही सीमित रही। इन भौतिक् परिस्थितियों में बहुत बड़े पैमाने पर कृषि संभव न थी अतः अतिरिक्त उत्पादन का प्रश्न ही नहीं उठता। पारिस्थितिकी सीमित कृषि-कर्म के अनुकूल थी पर नागरीकरण के लिए नहीं। यही कारण है कि ताम्राश्मीय संस्कृतियाँ ग्रामीण स्तर से ऊपर नहीं उठ पायीं। संकालिया के मतानुसार नवदाटोली की प्रारम्भिक बस्ती की आबादी लगभग 150 तक थी।

ताम्राश्मीय कालीन मानव ने कई प्रकार के पौधे उगाये – जैसे गेहूँ और चावल। नवदाटोली के 2-4 स्तर से मसूर, उड़द, मूँग, अलसी, जौ और आँवला आदि प्राप्त हुए। यह विचित्र बात है कि इस वनस्पति में शीत देशी जातियाँ अन्य जातियों से अधिक हैं। क्या यह उस काल की ठंडी जलवायु का द्योतक है?

इस क्षेत्र की चट्टानें पत्थरों के हथियार बनाने के लिए उपयुक्त थीं। दक्षिणी लावा में घिसी कुल्हाड़ी बनाने के लिए डोलराइट बहुतायत से मिलता है। यह क्षेत्र करकेतन व बादली पत्थर आदि के खनिजों से भरपूर था। ये पत्थर औजार बनाने के काम में लाये जाते थे। संकालिया को नर्मदा तट पर भी करके तन के गुल्म मिले। सामग्री की कमी या विभिन्न परम्पराओं के कारण बनास संस्कृति वालों ने लघु-अश्म अस्त्रों का प्रयोग नहीं किया, जबकि नवदाटोली में ऐसा लगता है कि प्रत्येक रविवार ने अपने प्रयोग के लिए स्वयं पत्थर के हथियार बनाये थे।

इस अध्याय विषयक लेख :

A. Ghosh : The Bull of the National Inst. of Sci of India, No. I, P. 37, 1952.

F.A. Khan : Pakistan Archaeology, 1964-65.

G.F. Dales : Proc. of Amer. Phil. Soc., Vol. 40, P. 130, 1966.

G.F. Dales : In Chronology in Old World, Ed., R.W. Ehrich, 1965 (Chicago).

H.D. Sankalia : Artibus Asiae, Vol. 26, P. 312, 1963.

J.M. Casal : Pakistan Archaeology, 1965.

B.B. Lal : Antiquity, Vol. 46, P. 282-287, 1972.

✪✪✪

(vi) निष्कर्ष

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि पारिस्थितिकी पूर्णरूप से सामाजिक विकास को नियंत्रित नहीं करती। पारिस्थितिकी, विकास में सहायक भी हो सकती है तो उसके मार्ग को अवरुद्ध भी कर सकती है। तकनीकी ज्ञान मानव की उसकी पारिस्थितिकी के नियंत्रण से मुक्त कर देता है। पर किसी एक निश्चित पारिस्थितिकी के परिवेश में तकनीकी ज्ञान कहाँ तक विकास कर सकता है इसकी भी सीमा है। सिन्ध में ताम्र तकनीक ने एक महान् सभ्यता को जन्म दिया तो दूसरी ओर दोआब के आर्द्र मानसूनी जंगलों में उलझ कर विलीन हो गये। हड़प्पा संस्कृति के 2000 वर्ष पश्चात्, बिहार से प्राप्त लौह से ही दोआब का नागरीकरण संभव हो सका।

अध्याय-2 संदर्भिका

इस अध्याय विषयक मुख्य ग्रन्थ

D.P. Agarwal : The Copper Bronze Age in India, 1971 (New Delhi).

D.D. Kosambi : The Culture and Civilisation of Ancient India in Historic Outline, 1965 (London).

M.B. Pithawala : A Physical and Economic Geography of Sind, 1959 (Karachi).

S. Piggott : Prehistoric India, 1961 (Harmondsworth).

R.L. Raikes : Water, Weather & Prehistory, 1967 (London).

O.H.K. Spate : India and Pakistan, 1963 (London).

E.P. Stebbing : The Forests of India, 1922 (London).

B. Subba Rao : The Personality of India, 1959 (Baroda).

R.E.M. Wheeler : Early India and Pakistan, 1959 (London).

भूतकालीन जलवायु परिवर्तन संबंधी लेख :

G.F. Dales : Antiquity, Vol.34, P. 86, 1962.

W.A. Fairservis : Amer Museum Novitates No. 2055, 1961.

H.T. Lambrick : Antiquity, Vol. 41, P. 228, 1967.

R.L. Raikes and : American Anthropologist, Vol. 63,
R.H. Dyson Jr. : P. 265, 1961.

R.L. Raikes : American Anthropologist, Vol. 66, P. 284, 1964.

R.L. Raikes : Antiquity, Vol. 39, P. 196, 1965.

R.L. Raikes : Antiquity, Vol. 42, No. 168, 1968.

C. Ramaswamy : Nature, Vol. 217, No. 5129, P. 628-629, 1969.

Gurdeep Singh : Archaeology and Physical Anthropology in Oceania, Vol. 6, No. 2, July, 1971.

Gurdeep Singh : The Paleobotanist, Vol. 12, No. 1, 1963.

B.B. Lal : American Anthropologist, Vol. 70, No. 5, P. 857-863, 1969.

✪✪✪

अध्याय 3

पुरातात्त्विक सामग्री और समस्याएँ

इस अध्याय में हमने नवीनतम पुरातात्त्विक उपलब्धियों के परिवेश में पुरैतिहासिक काल के चित्रण का प्रयास किया है। काल की दृष्टि से लगभग 300 से 500 ई.पू. तथा विस्तार की दृष्टि से गोदावरी के उत्तर में लगभग समस्त भारतवर्ष (भारत-पाक उपमहाद्वीप) को लिया गया है। सर्वेक्षण का मुख्य ध्येय, उभरने वाली समस्याओं का परिप्रेक्ष्य तथा उसके समाधान के लिए सूत्र प्रस्तुत करना है। इस अध्याय में आधार सामग्री तथा उसके बारे में विभिन्न मतों का बिना टीका-टिप्पणी के विवरण दिया गया है। इस आधार सामग्री में धातु सम्बन्धी तथ्य तथा काल-क्रमिक सम्बन्धों (कड़ियों) को भी सम्मिलित किया गया है। इन प्रमाणों को अगले अध्यायों में प्रसंगानुसार प्रयोग किया जायगा तथा परखा जायगा। स्थलों का वर्णन पारिस्थितिकीय परिवेश में किया गया है। पाँचवें अध्याय में केवल लौहकालिक संस्कृतियों का विवेचन है। कई क्षेत्रों का कालक्रम आज भी स्पष्ट नहीं है और कुछ क्षेत्रों का काल-निर्धारण विवादास्पद है। चौथे व पाँचवें अध्याय में कालक्रम समस्याओं का विस्तृत रूप से विचार किया जायगा। इस अध्याय में सांस्कृतिक वर्गीकरण प्रयुक्त किया गया है।

(I) प्राग्हड़प्पा संस्कृतियाँ

यहाँ हम यह सर्वेक्षण हिन्द-ईरान के सीमावर्ती भूखण्ड से आरम्भ कर रहे हैं। यह क्षेत्र मुख्यतः पहाड़ी है तथा हिमालय से संलग्न है। ये पर्वत-शृंखलाएँ भारत-पाक उपमहाद्वीप को इससे प्राचीन पश्चिमी सभ्यताओं के केन्द्रों से पृथक् करती थीं तो दूसरी ओर पहाड़ी दर्रों के रास्ते थोड़ा-बहुत आदान-प्रदान में सहायक भी हुए। स्पेट ने इस क्षेत्र का वर्णन इस प्रकार किया है। बलूचिस्तान की शुष्क घाटियाँ तथा पहाड़ियाँ विशाल ईरानी पठार के पूर्वी अंग हैं जो किर्थर तथा सुलेमान पर्वतों द्वारा सिन्धु के मैदानों से सुस्पष्ट रूप से विभाजित हैं। टोबा काकर और सुलेमान पर्वत शृंखला और झोब और बेजी के जालायित विन्यास (Trellis-pattern) की घाटियाँ इस क्षेत्र का विभाजन करती हैं। ऐसे प्रदेश में मरुद्यान पार्थक्य को प्रेरणा देते हैं। इस प्रकार का प्रदेश निकट संबंध तथा आदान-प्रदान व आवागमन के लिए अनुकूल न था। विभा त्रिपाठी के अनुसार इस प्रदेश की विभिन्न आदिवासी संस्कृतियों को यहाँ के भौगोलिक वातावरण ने आदर्श प्रतिवेश प्रदान किया है। इन्हीं मरुद्यानों में आरम्भिक कृषि-संस्कृतियाँ पनपीं जिन्होंने ईरानी संस्कृतियों से बहुत कुछ आत्मसात किया।

(क) अफगानिस्तान

(i) मुंडीगाक

दक्षिणी अफगानिस्तान में मुंडीगाक से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक क्रम प्राप्त हुआ है। वहाँ सबसे पहले बसे लोगों की बस्ती (काल I_1) से हस्तनिर्मित गुलाबी मृद्भाण्ड प्राप्त हुए हैं, जिसके थोड़े समय पश्चात् ही काल I_2 में मृद्भाण्ड चाकनिर्मित बनने लगे जिनका पश्चिमी संस्कृतियों से साम्य था। इस काल (I_2) में ताँबा भी इस्तेमाल होने लगा। काल I_3 में मृद्भाण्डों तथा वास्तुकला में आम्री का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। कूबड़ सांडों की चित्रित लघु मूर्तियाँ भी मिलती हैं। मुंडीगाक के II व III में पत्थर के सकेन्द्री डिजाइन वाली मोहरों का प्रादुर्भाव हुआ।

काल II में न केवल पाश्चात्य संस्कृतियों से, अनुपात में, अलगाव स्पष्ट है बल्कि तांबे की बनी वस्तुओं के संग्रह में नाकेदार सुइयाँ, रीढ़दार कटार तथा मरगोल युग्म प्राप्त हुए हैं। काल III में अकस्मात् ईरान, आम्री और हड़प्पा के प्रभाव के फलस्वरूप मृद्भाण्डों तथा उपकरणों के प्रकार में विविधता दृष्टिगोचर होती है। ताँबे व टीन के सम्मिश्रण का प्रमाण तथा हत्थे के लिए छेदवाली कुल्हाड़ी और बसूलों का प्रयोग सर्वप्रथम काल III_6 में हुआ। काल IV में परकोटे, दुर्ग तथा मन्दिर के ध्वंसावशेष पहचाने जा सके हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस काल में नगर विकास आरम्भ हुआ। काल IV में सूमा के स्कारलेट मृद्भाण्ड तथा कुछ ईरानी डिजाइन (आड़ी तिरछी रेखाएँ, प्राकृतिक रूप में दर्शाये गये तीतर तथा साकिन (Ibex) इत्यादि) से सामान्य समानताएँ अन्य कालों के समान निरन्तर देखी जा सकती हैं। काल V में शतरंजी पट्टे वाले हस्तनिर्मित मृद्भाण्ड पुनः मिलते हैं। इस काल में मृद्भाण्डों और धातु विज्ञान में पश्चिमी एशिया के प्रभाव का पूर्णतया अभाव है। मुंडीगाक के काल IV में मृद्भाण्ड, चूहेदान तथा एक पत्थर का पुरुष-सिर सिन्धु सभ्यता के कुछ पुराने तत्त्वों का आभास देते हैं।

डेल्स के मतानुसार मुंडीगाक के काल III में द्विरंगी व बहुरंगी मृद्भाण्ड एकसाथ मिलते हैं, लेकिन दक्षिण में भौगोलिक दृष्टि से इनका वितरण भिन्न है। बहुरंगी अलंकरण, (विशेष रूप से नाल भाण्ड) केवल बलूचिस्तान के उच्च प्रदेशों में ही मिलते हैं जबकि द्विरंगी अलंकार जिसे आम्री भाण्ड की संज्ञा दी गयी है गिरिपादों तथा सिन्धु के निचले भाग के मैदानों में ही केन्द्रित हैं। सुनिश्चित चित्र-शैलियों के बावजूद भी दोनों वर्गों मृद्भाण्डों के आकार तथा डिजाइन में कुछ समानता है। डेल्स की धारणा है कि बहुरंगी परम्परा पश्चिम से ली गयी। वे कहते हैं, 'मूलभूत परम्परा का विभाजन एवं जनसंख्या का एक भाग नीचे सिन्धु घाटी की ओर तथा बाकी बलूचिस्तान की मध्यम ऊँचाई वाले क्षेत्र (1000-1300 मीटर ऊँचाई) को गया। ऐसा क्यों हुआ कहना कठिन है। प्रकट रूप से ऐसा लगता है कि इन दो शाखाओं में पूर्णतया भिन्न सांस्कृतिक, आर्थिक एवं सामाजिक प्रणाली का विकास हो गया। ऐसा भी सुझाव दिया गया है कि नाल के निवासी कुछ अंश तक यायावर

गतिशीलता के साथ-साथ कृषि तथा पशुपालन पर मिश्रित रूप से निर्भर हो गये, जबकि आम्री निवासी स्थानबद्ध कृषक तथा नगरवासी हो गये, जिसके फलस्वरूप उन्होंने सिन्धु घाटी में सभ्यता-निर्माण की प्रक्रिया में प्रत्यक्ष रीति से योगदान किया। निश्चित रूप से कहना कठिन है कि यह जन-समुदायों की गतिशीलता के फलस्वरूप अथवा केवल परम्परा के कारण हो सका।'

(ii) देह मोरासी घुँडई

दक्षिण मध्य अफगानिस्तान में देह मोरासी घुँडई बलूचिस्तान के लिए ईरानी प्रभाव के प्रसारण का केन्द्र रहा। यहाँ काल I राना घुँडई के समान है, किन्तु केवल इस काल में कुछ ठीकरे ही प्राप्त हुए हैं, चकमक औजार नहीं मिले। काल II के मृद्‌भाण्डों की तुलना क्वेटा तथा ईरान से की जा सकती है। इसके अतिरिक्त झोब लदु मूर्तियाँ, खानेदार मुद्रा-छापे तथा स्कन्ध कुदाली तथा काल III में शव भी मिले हैं।

(ख) बलूचिस्तान

बलूचिस्तान प्रधानतः पहाड़ी तथा अर्धशुष्क इलाका है और मानसूनी वृष्टि की छाया के पश्चिम में पड़ता है। यहाँ जलवायु पूर्वी ईरान के समान है। बलूचिस्तान के हड़प्पा संस्कृति से स्थल (डूकी, डाबर कोट) अंतर्वर्ती क्षेत्र में स्थित हैं जिनका सिन्धु घाटी से पारिस्थितिकीय संबंध है। बलूची पुरैतिहासिक स्थलों की स्थिति बलूचिस्तान के उच्च प्रदेश में परिसीमित रहने की है।

हाल ही में बलूचिस्तान क्षेत्र में फेयरसर्विस और डी कार्डी ने व्यापक रूप में अन्वेषण किया। इसी के फलस्वरूप आज हमें इन बलूची पुरैतिहासिक संस्कृतियों के विषय में विस्तृत ज्ञान हो गया है, लेकिन उसकी (दम्ब सदात को छोड़कर) पुरानी कार्यप्रणाली के कारण उसके कार्य का महत्त्व कम हो गया है। डी कार्डी का कथन है कि कच्ची ईंटों को न पहचान सकने के कारण उत्खनकों ने 25 से.मी. की इकाइयों में खोदा। इसलिए क्वेटा की घाटी से प्राप्त विविध प्रकार के अलंकृत तथा अनलंकृत मृद्‌भाण्डों का सहसंबंध कठिन है।

(i) नाल

सन् 1925 में हार्ग्रीव्स ने कलात में नाल का उत्खनन किया। वहाँ के मकानों की दीवारों में नीवें खोदकर बनायी गयीं थीं। चिनाई तीन प्रकार की थीं – पहले प्रकार की चिनाई में खदान से निकाले गये सीधी दरार वाले पत्थर प्रयोग किये गये थे। दूसरे प्रकार की चिनाई में नदी के पत्थर, और तीसरे प्रकार की चिनाई में दोनों किस्म के पत्थरों का प्रयोग किया गया था। आम्री में भी कजाल ने ऐसी इमारतें देखीं। उसके विचार से नरभक्षी पशुओं से रक्षा हेतु इमारतों को ऊँचा बनाया गया था।

हार्ग्रीव्स ने मुख्य रूप से कब्रिस्तान क्षेत्र का उत्खनन किया जहाँ उसे विभिन्न प्रकार

की कब्रें मिलीं। अस्थि भंग कब्रों में बर्तनों के आस-पास बच्चों और वयस्कों की हड्डियाँ छितरी पड़ी थीं। एक अन्य प्रकार की कब्रों में बिना किसी सुनिर्मित कब्र के ही सम्पूर्ण शरीर को दफन किया गया था।

आवासीय क्षेत्र डी में अनियमित ढंग के कक्ष थे जिनमें लकड़ी की कड़ियाँ तथा दीवारें काली हो गयी थीं। चकमक के चाकू और क्रोड़ सर्वथा अप्राप्य थे। मनके, बादली पत्थर (Agate), तामड़े पत्थर (Carnelion), लाजवर्द (Lapis Lazuli), शंख (Shell), पेस्ट (Paste), चूने के पत्थर और ताँबे के थे। मृण्मूर्तियों में मेढ़ा, कूबड़ वाला साँड तथा मानवाकार मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं।

नाल के मृद्भाण्डों की मिट्टी हरिताभ और गुलाबी रंग के बीच की है जिस पर दूधिये रंग की स्लिप है, गहरी लाल स्लिप कम ही है। इसमें मुख्य आकृतियाँ हैं - अंतर्नत किनारे वाली कटोरियाँ, बेलनाकार पेटिका, पेंदेदार भाण्ड। काले डिजाइन, लाल, पीले, नीले और हरे रंगों से भरे गये थे, जिनमें से केवल लाल रंग ही बर्तनों को पकाने के पूर्व लगाया गया था। डिजाइन खण्डों में बने थे। पशु डिजाइनों में साँड, मछलियाँ और चीते बनाये गये थे। ज्यामितीय डिजाइन थे – सिग्मा, अंग्रेजी के W अक्षर, कंघी के प्रतिरूप तथा प्रतिच्छेदी वृत्त। आवासीय क्षेत्र D के मृद्भाण्ड बहुरंगी नहीं है। क्या यह कहना उचित होगा कि केवल शवाधानों से संबंधित मिट्टी के बर्तन ही अलंकृत किये गये थे तथा दैनिक इस्तेमाल में आने वाले बर्तन अनलंकृत थे? नाल के कब्रिस्तान तथा आवास क्षेत्र के संबंधात्मक विवाद के बारे में अध्याय 4 में विचार करेंगे। इस मुंडीगाक III के सादृश्य के आधार पर नाल के कब्रिस्तान को आवास क्षेत्र (D और F क्षेत्र के ऊपरी स्तर) के पहले का निर्धारित किया है।

D क्षेत्र से सेरुसाईट (Cerrusite) तथा सीसे के मल प्राप्त हुए हैं, जो सीसा प्रद्रावण (प्रगलन) की ओर इंगित करते हैं। नाल से प्राप्त हुए ताँबे की वस्तुओं में बसूला, आरी, कुल्हाड़ी, छेनी, छुरा और मोहर का उल्लेख किया जा सकता है। इनमें से कुछ औजार (उपकरण) कुदाल के समान हैं।

(ii) किलीगुल मोहम्मद

किलीगुल मोहम्मद काल I संस्कृति में प्राग्-मृदभाण्ड (बल्कि निर्मृद्भाण्ड) स्तरों से हड्डी और पत्थर के औजार और उपकरण मिलते हैं। काल II में चाक से बने काले रंग से चित्रित लाल रंग के मृद्भाण्डों का प्रादुर्भाव हुआ। कुछ अलंकृत डिजाइन हलफ शैली का स्मरण कराते हैं। इस काल में ताँबा भी उपलब्ध हुआ। काल III में यद्यपि ईंटें तथा अन्य सिन्धु-सभ्यता के डिजाइन जैसे साँड और पीपल का पत्ता का आरम्भ हुआ, फिर भी ईरानी प्रभाव निरन्तर रहा।

फेयरसर्विस द्वारा दी गयी आधार-सामग्री का विश्लेषण करने पर डेल्स ने उसके वर्गीकरण को दोषपूर्ण पाया क्योंकि काल II के मृद्भाण्डों के बारह प्रकारों में से दस चाकनिर्मित थे। डेल्स ने किलीगुल मोहम्मद के काल II या काल III को एक विशिष्ट संस्कृति इकाई के रूप में लिया जो उसके द्वारा वर्गीकरण किये गये प्रकाल C के अन्तर्गत हैं।

क्वेटा पिशन जिले के दंबसदात से विभिन्न प्रकार के भाण्ड प्राप्त हुए हैं। दंबसदात के काल I से निम्नलिखित चाकनिर्मित भाण्ड प्राप्त हुए हैं : सरदार खुरदरा पाण्डु, केचीवेग आक्सीकृत, मुस्तफा मृदुकृत (Tempered), क्वेटा अभ्रकी, मलिक गहरीस्लिप, केची बेग पाण्डु पर काली स्लिप, केची बेग काली पर सफेद स्लिप, केची गेग बहुरंगी, क्वेटा सतह पर काला, केची बेग लाल चित्रित इत्यादि। वली रेतीला तथा कंकर मृदुकृत भाण्ड हस्तनिर्मित है। दंबसदात के काल II में हमें निम्नलिखित प्रकार प्राप्त हुए हैं : मिया घुंडई पाण्डु पर काला, काली स्लिप पर लाल भूरा, फैज मोहम्मद सलैटी तथा क्वेटा आर्द्र भाण्ड। सदात एक-रेखा भाण्ड दंबसदात के तीसरे काल में ही सीमित है।

(iii) दंबसदात

दंबसदात के झोब के समान मातृदेवी की (केवल काल III से) गरुड़ीय नाक और गोल व बाहर निकली आँख वाली तथा काल (II तथा III में) निलंबी स्तन तथा समकोण में मुड़ी मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई। इसके अतिरिक्त मकानों के खिलौने भी मिलते हैं। खानेदार मोहर, पकी मिट्टी की चूड़ियाँ, हड्डी, हाथी दाँत, करकेतन, लाजवर्द, सेलखड़ी के मनके भी मिलते हैं।

यहाँ सीसे की कुछ कच्ची धातु भी मिली। दंबसदात के दूसरे और तीसरे काल से तांबे के कुछ टुकड़े तथा छुरे भी मिले। दंबसदात के पत्थर के चाकू समानांतर किनारे के हैं तथा एक सिरे से दूसरे सिरे तक उनकी मोटाई समान है।

केचीबेग भाण्डों की समान रूप से उपस्थिति के आधार पर दंबसदात के काल I को किली गुल मोहम्मद के काल IV के बराबर माना गया है। आम्री के राना घुंडई III-B तथा उनके कैचीबेंग भाण्ड के साम्य के फलस्वरूप इन्हें दंबसदात I के साथ रखा जा सकता है। यदि फैज मोहम्मद सलेटी भाण्ड की सूर जंगाल स्लेटी से तुलना की जा सकती है तो दंबसदात II को रानी घुंडई काल III के बराबर माना जा सकता है। रेखा छायांकित साण्ड, कंघी पैटर्न तथा पक्षी मूर्ति के समान प्रतिरूपों के आधार पर दंबसदात II और III की कुल्ली से भी तुलना की जा सकती है। दंबसदात II और III के हड़प्पा से सामंजस्य के आधार हैं – अँगूठे के नख से उत्कीर्ण मृद्भाण्ड, छिद्रित बर्तन तथा पक्षी मृण्मूर्तियाँ। मोहनजोदड़ों के नीचे के स्तरों से क्वेटा आर्द्रभाण्ड (Quetta Wet Ware) भी मिले हैं।

(iv) अंजीरा और स्याह दंब

बलूचिस्तान के कलात क्षेत्र में डी कार्डी ने उत्खनन किया। सुराब क्षेत्र में (अंजीरा तथा स्याह दंब स्थलों में) उसने पाँच कालों का अनुक्रम प्रस्तुत किया। काल I में उपकरण अल्प मात्रा में प्राप्त हुए हैं। इस काल में चाकू-शल्क (Flake-blades) जो स्याल्क I-III से साम्य रखते हैं तथा लाल स्लिप वाले मृद्भाण्ड मिलते हैं। अंजीरा में अर्थ-यायावर बस्ती के अवशेष मिले जो किलीगुल मोहम्मद II के तुल्य हैं। दूसरे काल की कच्ची ईंटों की इमारतों की स्थायी बस्ती का प्रमाण है। सांस्कृतिक सामग्री किलीगुल मोहम्मद II, III के अनुरूप थी

तथा लाल स्लिप वाले चमकीले मृद्‌भाण्ड, जो बलूचिस्तान में अज्ञात हैं, तथा टोकरी के फ्रेम में बनाये गये अनगढ़ बर्तन भी मिले। दो सींग, जो संभवतः किसी छोटे वृषभ-मृण्मूर्तियों के भाग रहे होंगे, अद्वितीय हैं, क्योंकि अभी तक किलीगुल मोहम्मद संस्कृति में यह प्राप्त नहीं हुए हैं। तीसरा काल अंतर्वर्ती है जिसमें नयी वस्तु शैली तथा मृद्‌भाण्डों का प्रादुर्भाव हुआ। सियाह II में टोकरी के निशान वाले तथा किलीगुल मोहम्मद भाण्ड सामान्यतः मिलते हैं। द्वितीय प्रकाल में एक अतिविशाल मंच का निर्माण किया गया जो बाद में ध्वस्त हो गया तथा तीसरे प्रकाल में पुनर्निर्मित किया गया। जरी भाण्ड तथा परिष्कृत दूधिया स्लिप मृद्‌भाण्ड काल III की विशिष्टता है। 'बी' अवस्था से प्रारम्भ होकर, टोगाउ चित्रवल्लरी में अंतरण की पहले से तीसरे प्रकाल तक स्तरविन्यासात्मक दृष्टि से तीन अवस्थाएँ देखी जा सकती हैं। इस काल की किलीगुल IV तथा आम्री (केची) बेग भाण्डों के आधार पर दंबसदात I से तुलना की जा सकती है। काल IV कुछ अंश तक दंबसदात II के क्वेटा संस्कृति के आधिपत्य के साथ पड़ता है। अंजीरा में विस्तार तथा पुनर्निर्माण इसकी विशेषता है। नाल के उत्कृष्ट भाण्ड मुख्यतया दूधिया स्लिप वाले थे तथा विविध द्विरंगी तथा बहुरंगी डिजाइन इनमें बने थे। चित्र प्राकृतिक तथा ज्यामितिक शैलियों के थे। अंजीरा भाण्ड प्रकार भारी बरतनों के लिए ही था। अंजीरा भाण्ड कुल्ली संस्कृति से कड़ी स्थापित करता है क्योंकि यह शाहीटूंप के कुल्ली स्तरों में प्राप्त है। शाही टूंप में इस प्रकार का एक कटी-माडल प्राप्त हुआ था। काल V के निक्षेप काफी हद तक अपरदित (Croded) हैं। तथापि वहाँ पेरिआनो वेट रिजर्व स्लिप भाण्ड तथा रानी घुंडई III-सी के डिजाइन प्राप्त हुए हैं। यद्यपि वहाँ से कोई भी धातु की वस्तुएँ प्राप्त नहीं हुई तथापि अंजीरा III और IV काल से प्राप्त सान धातु के प्रयोग की ओर इंगित करते हैं।

(v) एडिथ साहीर

दक्षिण-पूर्व में लास बेला जिले में एडिथ साहीर समूह है जहाँ पंक्तिबद्ध शिलाखण्डों से निर्मित इमारतें तथा सड़कें मिलीं। पत्थर की बीथियाँ क्रमशः ऊपर की ओर घटती हुई जिग्गुरात की योजना की याद दिलाती हैं। मृद्‌भाण्डों के आधार पर यहाँ के दो काल पहचाने गये हैं जिनमें काल II में हड़प्पा संस्कृति का प्रभाव देखा गया।

(vi) बामपुर

सुदूर पश्चिम में ईरानी बलूचिस्तान में डी कार्डी ने बामपुर में उत्खनन से छह काल पाये। वहाँ के प्रथम तथा द्वितीय प्रकाल में चाक से बने मृद्‌भाण्ड प्राप्त हुए हैं जो दूधिया स्लिप वाले हैं। उन पर काले अथवा भूरे रंग से विभिन्न प्रकार के ज्यामितिक व पशु-चित्र डिजाइन बनाये गये हैं। इनका सूसा से सादृश्य है। बामपुर के काल III तथा IV का मुंडीगाक से संपर्क था किन्तु कुल्ली संस्कृति से संपर्क के कोई प्रमाण नहीं मिलते। बामपुर के काल IV-V में उत्कीर्ण डिजाइन वाले सेलखड़ी के भाण्ड प्रचलित थे। सूसा से प्राप्त ऐसा एक उदाहरण नरमसिन के काल (2291-2295 ई.पू.) का माना गया है। काल I से IV

के मृद्भाण्डों की शैली में निरंतरता है। काल V में निश्चित रूप से अंतराल है। इस काल के मृद्भाण्ड मिश्रित प्रकार के हैं जिसमें कुल्ली कलात, परवर्ती सुधा संस्कृति के तत्त्व देखे जा सकते हैं। काल VI में निश्चित स्थानीय शैली का प्रादुर्भाव हुआ। पुरातात्त्विक तर्कों के आधार पर डी कार्डी ने प्रथम काल को ईसापूर्व तीसरी सहस्राब्दी अथवा उससे थोड़ा पहले का कहा है।

(vii) कुल्ली

दक्षिणी बलूचिस्तान के कोलवा प्रदेश में कुल्ली संस्कृति के अनेक स्थल हैं। अनगढ़ पत्थरों की इमारतें तथा एशलर (Ashlar) चिनाई, पटिया वाली पटरियाँ, विविध शव-संस्कार (अंत्येष्टि संस्कार), विशिष्ट मृद्भाण्ड, उत्कीर्ण खानेदार पत्थर के भाण्ड, विचित्र स्त्री-मृण्मूर्तियाँ तथा कूबड़ वाले साँड इस संस्कृति की मुख्य विशेषताएँ हैं। तौजी और मजैना दंबसदात में जो संभवतः कुल्ली संस्कृति से ही संबंधित हैं, प्राचीर के अवशेष देखे गये। यहीं कब्रिस्तान से ताम्र-कांस्य उपकरणों के प्रचुर उदाहरण मिले हैं। वहाँ से प्राप्त एक ताम्र दर्पण, एक स्त्री के रूप में बना मूठ वहाँ के विशिष्ट उदाहरण हैं।

यहाँ के भाण्डों पर गुलाबी जैसी अथवा पाण्डु तथा सफेद अथवा सफेद जैसी स्लिप लगायी जाती थी। यहाँ के विशिष्ट चित्रित अलंकरण निम्नलिखित हैं। मण्डलों में विभाजित असादृश्यमूलक डिजाइन जिनके बीच यदा-कदा पूरे भाण्ड के चारों ओर बनायी गयी चित्रवल्लरी है जिसमें पशुओं और वनस्पति का स्वाभाविक चित्रण किया गया है। अनोखे रूप से दीर्घकाय पशु (साधारणतः कूबड़ वाले साँड), सांकेतिक भू-दृश्य, विशाल गोल आँखें, रूढ़ी कृत बकरियाँ तथा अन्तराल को भरने के लिए कई अन्य डिजाइन (रिक्तामय या भ्वततवत टंबनप) मुख्य हैं। 'पशुओं के साथ भू-दृश्य', सूसा तथा दियाला क्षेत्र के 'स्कालैट वेयर' से संबद्ध हैं। टोकरी तथा अन्य प्रकार वाले पत्थर के भाण्डों के समरूप उदाहरण मेसोपोटामिया में प्राप्त हुए हैं। कुल्ली के हड़प्पा से सांस्कृतिक तथा कालगत संबंध स्पष्ट नहीं है, किन्तु ऐसा लगता है कि कुछ महत्त्वपूर्ण संबंध रहे होंगे। हाल ही में फारस की खाड़ी में अबूढाबी से पहली बार महत्त्वपूर्ण संबंध के प्रमाण प्राप्त हुए हैं। डेल्स के अनुसार कुल्ली के निवासी हड़प्पा और मेसोपोटामिया के व्यापारिक तथा सांस्कृतिक संबंधों में मध्यस्थता का काम करते रहे होंगे। संगीरा शवाधानों से प्राप्त चित्रित भाण्ड ही इसका मुख्य प्रमाण है। यह अलंकरण कुल्ली प्रकार का है। कुल्ली सदृश लघु-मूर्तियाँ दक्षिणी बलूचिस्तान से प्राप्त प्राचीनतम स्त्री मूर्तियाँ हैं।

दक्षिणी ईरान तथा मेसोपोटामिया से महत्त्वपूर्ण समानताओं के कारण यह संभव है कि कुल्ली संस्कृति का मौलिक विकास नाल संस्कृति समूह से ही हुआ हो। यद्यपि क्षेत्रीय विस्तार की दृष्टि से नाल (बहुरंगीय) तथा कुल्ली संस्कृति के स्थल परस्पर स्थायी हैं किन्तु इन दोनों क्षेत्र का विस्तार स्पष्ट रूप से भूतल की ऊँचाई की दृष्टि से समझा जा सकता है। नाल संस्कृति की बस्तियाँ 1000 से 1300 मीटर के मध्य ऊँचाई वाले इलाके में मिलती हैं (संक्षेप में पहले वर्णन किया जा चुका है), जबकि कुल्ली संस्कृति की बस्तियाँ निचली ऊँचाई वाले

मण्डलों में 700 मीटर तक स्थित हैं। नाल तथा आम्री के भाण्ड संग्रहों में आकार तथा चित्रित डिजाइनों की दृष्टि से कई समानताएँ देखी जा सकती हैं। नाल, कुल्ली तथा आम्री संस्कृतियों के इस सांकेतिक कालगत संबंधों की कुछ हद तक पुष्टि निन्दोवरी के उत्खनन के विवरण से होती है। निंदोवरी से नाल कब्रगाह के बाद के मृद्भाण्ड, जिन पर विशिष्ट वानस्पतिक अथवा बुक्रेनियम 'सदात' डिजाइन बने हैं, ठेठ कुल्ली मृद्भाण्डों के साथ मिले हैं। निंदोवरी के पहले दो उत्खननों में केवल एक नाल ठीकरा (तथा आम्री का कोई भी नहीं) प्राप्त हुआ।

(viii) पीराक दंब

बलूचिस्तान में कच्ची मैदान के इलाके में पीराक दंब से एक दुरंगा भाण्ड-प्रकार प्राप्त हुआ। जिसका राइक्स के अनुसार ईराक के स्तरों निनेवेह III तथा अर्पाचियाह से घनिष्ठ संबंध है। उनके अनुसार वास्तव में इसके आधार पर पीराक का काल काफी पहले का (लगभग 5000 ई.पू.) माना जा सकता है। इसी कारण पीराक से बलूचिस्तान की उत्तरकालीन ताम्राश्मीय संस्कृतियों का सीधा सांस्कृतिक विकास ज्ञात करना संभव नहीं। पीराक भाण्ड के कालानुक्रम के विवाद में पड़ने के बजाय हम केवल इतना ही कहेंगे, कि डेल्स ने इसे केवल D प्रकाल में ही सम्मिलित किया है।

पिराक दंब के मुख्य मृद्भाण्डों की विशेषता निम्नलिखित है :-

दूधिया अथवा पाण्डु स्लिप पर काले अथवा भूरे जैसे रंगों का प्रयोग, तिरछे डिजाइनों के प्रति स्पष्ट अभिरुचि, स्लिप तथा अन्य रंग द्वारा बनाया गया जटिल जाली का काम, बहुत से त्रिकोण, सरल रेखीय (Rectilinear) प्रतिरूप, खड़ी रेखाओं द्वारा विभाजित विभिन्न बनतखंण्डों (Design-panel) के डिजाइन इत्यादि। अधिकतर सादे भाण्ड हस्त-निर्मित हैं। अलंकृत भाण्ड मन्द गति के चाक में बनाये गये हैं। पूरे दंब में चाक पर बने भारी, अनलंकृत सलेटी रंग के भाण्ड के टुकड़े छितरे पड़े मिलते हैं। इन भाण्डों के साथ खाँचेदार फलक (Notched blades) भी प्राप्त होते हैं जो विशिष्ट प्रकार हैं।

यह क्षेत्र सामान्यतः गिरिपाद तथा सिन्धु के मैदानी इलाके के द्विरंगी भाण्डों की परम्परा का ही एक हिस्सा माना जा सकता है।

(ix) राना घुंडई

फोब घाटी में राना घुंडई से पूरा सांस्कृतिक अनुक्रम प्राप्त हुआ है। प्रथम काल में किसी भी प्रकार की इमारतें नहीं थीं तथा हस्तनिर्मित अचित्रित मृद्भाण्ड, पिलँट के, बिना चमक के चाकू, हड्डी की नुकीली सुई, नाकेदार सूई आदि इस काल की विशेषता है। साँड (Bos indicus), भेड़ (Ovis vignei), गधे (Equus asinus) जानवरों की हड्डियों के अलावा घोड़े (Equus caballus) के चार दाँत भी यहाँ से प्राप्त हुए। पहले काल के अवशेषों से आभास होता है कि इस काल में यह स्थल यायावर घुड़सवारों का पड़ाव शिविर था।

दूसरे काल की विशेषता उत्कृष्ट चित्रयुक्त चाक-निर्मित मृद्भाण्ड हैं। कूबड़ वाले साँड तथा काले मृग, पाण्डु पर काले रंग के बनाये गये हैं तथा इनका हिस्सार काल I से साम्य है। कुल्ली के विपरीत, इनमें पशुओं का दीर्घीकरण सपाट न होकर लंब है। मकानों की नींव में शिलाखंड लगाये गये थे। इस संक्षिप्त काल के बाद के निक्षेप अवशेष रहित थे। किन्तु काल III काफी बड़ा है तथा इसमें पूर्ववर्ती काल की परम्परा की निरन्तरता देखी जा सकती है। चित्रण की लाल पर लाल तकनीक इस काल में आरम्भ हुई। इन द्विरंगी विधि से बने बहुल रेखा के वर्ग तथा पीठिका में लंब रेखाएँ आम्री का स्मरण कराती हैं। काल III-बी में सुराही के समान भाण्ड बनने लगे, काल III-सी में चित्र अपरिष्कृत हैं तथा पृष्ठभूमि में लाल रंग के अधिक गहरे होने के प्रमाण स्पष्ट हैं। काल III-सी का अंत संभवतः आग लगने तथा हिंसात्मक घटना से हुआ। काल IV और V पूर्ववर्ती काल से सर्वथा अलग है। काल V में अपरिष्कृत कटोरे मिलते हैं जिनमें भद्दे चित्र बने हैं। काल V में चित्रण की परम्परा भी समाप्त हो गयी तथा उसके बजाय डिजाइन जड़े गये हैं।

पिगट ने नाल और सूरजंगल की राना घुंडई III-सी से तुलना की है। नाल में शिलाखण्डों की नींव पर बने कच्ची ईंटों के मकान (जिनकी दीवारें 5 फुट से 13 फुट लम्बी हैं) तथा मुगल घुंडई में परकोटे से संकेत भी मिले हैं। पेरिओना III-सी की राना घुंडई III-सी से तुलना की गयी है। यद्यपि केश विन्यासयुक्त, आँख के लिए गोल छिद्र तथा कठोर मुखमुद्रा वाली मिट्टी की बनी नारी की लघु मूर्तियाँ तथा साँडों की अनगढ़ लघु मूर्तियाँ राना घुंडई के उत्खनन से प्राप्त नहीं हुई हैं फिर भी वे आर.जी. III संग्रह का संभवतः भाग मानी जा सकती हैं। चकमक पत्थर के बने नोकीले औजार, पर्णाकार बाणाग्र तथा सेलखड़ी के प्याले इस काल की विशेषता हैं। पेरिआनो घुंडई से एक ताँबे की छत्र तथा एक छल्ला प्राप्त हुआ। सूरजंगल, पेरिआनो घुंडई और मुगल घुंडई के संगोरा शवाधानों से प्राप्त दहन की गयी हड्डियाँ संभवतः आर.जी. III की हैं क्योंकि आर.जी. III के ठीकरे ऊपरी तलों से प्राप्त ठीकरों से मिलते हैं। स्टाईन द्वारा उत्खनित मुगल घुंडई के संगोरा शवाधानों से स्याल्क बी प्रकार के अवशेष मिले, किन्तु पेरिआनो घुंडई तथा इस स्थल में दाहसंस्कार शवाधान भाण्डों में थे जिनमें से एक कमरे के फर्श के नीचे तथा एक दीवार में भाण्डों के साथ मिले।

(ग) सिन्धु

(i) आम्री

सिन्धु घाटी में आम्री के उत्खनन से चार कालों का क्रम मिला है। काल I-ए में हस्तनिर्मित (अधिकांश बिना किनारे वाले) तथा ज्यामितिक डिजाइन वाले मृद्भाण्ड तथा टोगाउ ठीकरे मिलते हैं। कुछ चाकनिर्मित भाण्ड, चर्ट के बने चाकू तथा तांबे के टुकड़े भी मिले हैं किन्तु कोई इमारत नहीं मिली। काल I बी में कच्ची ईंटों की इमारतें, भिन्न डिजाइन, सपीठ थालियाँ, हड्डी तथा चर्ट के उपकरण मिलते हैं। काल I-सी में चार संरचनात्मक तल
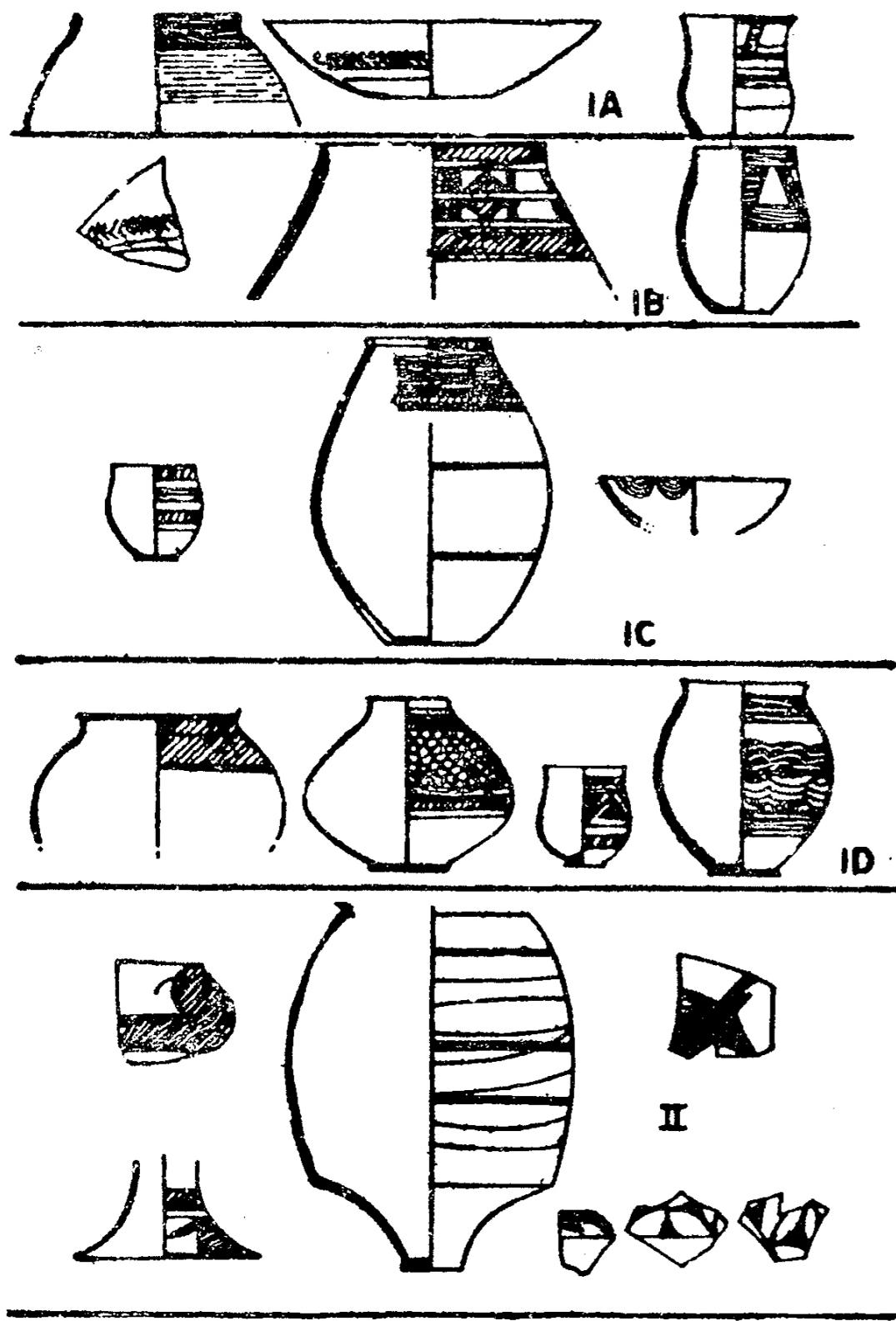
आरेख 4 : आभ्री संस्कृति के मृद्‌भाण्ड-प्रकार

हैं। यह काल चरमोत्कर्ष का है। टीले में संभवतः श्रमिकों के आवास थे। काल I-डी यद्यपि अल्पकालीन था फिर भी इस काल में बलूचिस्तान और अफगानिस्तान से निरन्तर संबंध रहे। अंतर्वर्ती काल II में दो प्रकाल हैं। डेल्स ने इस काल में अफगानिस्तान (मुंडीगाक IV) से वास्तु-परक तथा मृत्तिका-शिल्प संबंध पाये हैं। इस काल के पहले भाग में आभ्री

मृद्‌भाण्ड लगातार मिलते हैं किन्तु कुछ हड़प्पा मृदभाण्ड - प्रकार भी आरम्भ होने लगे। काल III-बी में परकोटे के अवशेष तथा मंचों पर स्तम्भों के लिए बने गढ़े भी देखें जा सकते हैं। इस काल का अंत हिंसात्मक कारणों से हुआ प्रतीत होता है। काल III-बी में परकोटे के अवशेष तथा मंचों पर स्तम्भों के लिए बने गढ़े भी देखे जा सकते हैं। इस काल का अंत हिंसात्मक कारणों से हुआ प्रतीत होता है। काल III हड़प्पा का है, काल III-सी में मृद्‌भाण्डों के प्रकार तथा अलंकरण में नवीनता परिलक्षित होती है। काल III-डी झूकर तथा काल IV झंगड़ संस्कृति का है।

फ़ेयरसर्विस के अनुसार '. . . पीपल के पत्ते, मिसा के पत्ते (Willow Leaf), अतिव्यापी शल्क, रेखा-छाया त्रिकोण प्रतिरूप (पैटर्न), पट्ट में बने मृग अथवा साकिन तथा आम्री-नाल बहुरंगी शैली, आम्री-नाल तथा हड़प्पा शैलियों के निकट संबंधों की ओर इंगित करते हैं।' घोष के अनुसार यह उत्पत्ति मूलक निकट संबंधों के संकेत हैं। किन्तु कजाल ने इस बात पर जोर दिया है कि आम्री में हड़प्पा के तत्त्व पूर्णतया विकसित रूप में ही प्राप्त हुए हैं और कारण, हड़प्पा संस्कृति की उत्पत्ति आम्री-संमिश्र से होने की संभावना नहीं है। हड़प्पा सभ्यता धीरे-धीरे आम्री के ऊपर छा गयी। कजार के अनुसार 'हड़प्पा के रूप आम्री में अंतर्वेधी हैं।'

बीकानेर क्षेत्र में सरस्वती तथा दृषद्वती के अन्वेषण में घोष को इतर हड़प्पा ठीकरे मिले जो अब कालीबंगन के काल I से तादात्म्य रखते हैं। घोष ने इस संस्कृति को सोथी संज्ञा दी यद्यपि यह अभी तक प्रचलित नहीं हो सकी है।

(ii) कोटदीजी

कोटदीजी से प्राग्हड़प्पा काल (4 से 16 स्तर) एक मिश्रित तल III-ए। काल तथा हड़प्पा संस्कृति (I-ए से III) के अवशेष प्राप्त हुए हैं। कोटदीजी और हड़प्पा संस्कृतियों का विभाजन एक भस्मसात स्तर द्वारा हुआ है। कोटदीजी संस्कृति की आरम्भिक अवस्था में मुख्यतः बिना गर्दन तथा बिना किनारे वाले आकार के बर्तन भी मिलते हैं। बाद की अवस्थाओं में बर्तनों में गर्दन बनायी जाने लगी तथा काले और सफेद रंगों के डिजाइन भी बनने लगे। आरम्भ की पट्टी, बहुल पाश (Multiple loops) तथा अनेक रेखाएँ ही बाद में मत्स्यशल्क डिजाइन में विकसित हुई। खान के विचार में हड़प्पा शैली के मत्स्य-शल्क डिजाइनों का उद्‌भव कोटदीजी से हुआ। सामान्यतः कोटदीजी के मृद्‌भाण्ड पतले और उत्कृष्ट हैं तथा अच्छी तरह घोटी गयी मिट्टी से चाक-निर्मित हैं। इनकी पृष्ठभूमि का रंग गुलाबी से लेकर लाल है। पट्टियाँ लाल भूरे, सीपिका और काले रंग से दूधिया स्लिप के ऊपर बनायी गयी है। उत्तरकालीन स्तर में सपीठ थालियाँ आम हो गयीं तथा तुलनात्मक दृष्टि से कोटदीजी में यह अधिक नाजुक किस्म की हैं। बाद के प्रकालों में ज्यामितिक डिजाइन का भी प्रयोग किया गया है। सींग वाले देवता के अतिरिक्त कहीं भी वनस्पति अथवा पशु डिजाइन प्रयुक्त नहीं किये गये।

(घ) राजस्थान

राजस्थानी रेगिस्तान, सिन्ध, राजस्थान, पंजाब व गुजरात के क्षेत्रों में एक विस्तृत-भूभाग

में फैला है जिसे अरावली पहाड़ियाँ दो भागों में विभाजित करती हैं। इसके उत्तर-पश्चिम में थार रेगिस्तान है, और दक्षिण-पश्चिमी भाग में पहाड़ियाँ और पठार हैं। उत्तर में घग्गर और सरस्वती नदियाँ हैं, जो अब सूख गयी हैं। इस क्षेत्र में पूर्व-हड़प्पा व हड़प्पा स्थल मिलते हैं, तो दक्षिण पूर्व में माही व बनास नदियों के क्षेत्र में बनास संस्कृति के अवशेष मिलते हैं।

(i) कालीबंगन

लाल और थापड़ ने घग्गर की घाटी में स्थित इस स्थल का उत्खनन किया। एक विस्तृत टीले से, कालीबंगन प्रथम काल की प्राग्हड़प्पा कालीन, एक दुर्ग की दीवार मिली। प्रयुक्त कच्ची ईंटों का आकार 30x20x10 से.मी. है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राकृत तल (Natural soil) से 160 से.मी औसत ऊँचाई वाले तल पर, यह बस्ती कुछ समय के लिए, संभवतः भूकम्प के कारण, त्याग दी गयी थी। इस तल पर रेत की एक परत मिलती है। उपर्युक्त घटना हड़प्पा संस्कृति की समकालिक होने से संभवतः सैंधवों के आगमन के कारण शीघ्र ही यह बस्ती फिर बस गयी। तत्पश्चात् टीले का संरचनात्मक स्वरूप ही बदल गया। काल I से ताँबे के केवल मात्र कुछ टुकड़े ही मिले हैं। लाल से लेकर गुलाबी रंग के हलके, षतले मृद्भाण्ड चाक निर्मित हैं। निष्प्रभ-सी सतह पर काले व सफेद मिश्रित रंगों से अलंकरण किया गया है। इन पर निम्नलिखित विविध प्रकार के डिजाइन बने थे यथा – जालीदार त्रिकोण, छन्नाकार शंख, मूँछनुमा द्वि-पट्‌ट, नतोदर किनारे वाले त्रिकोण और हिरन, साकिन, साँड, बिच्छू, बतख आदि का नैसर्गिक चित्रण, मृद्भाण्डों के कंठ पर चौड़े पट्‌ट, तितली, सैंधव शल्क, बुकरानियम के डिजाइन चित्रित हैं। मृद्भाण्डों की रचना और अलंकरण की दृष्टि से, थापड़ ने इनको ए से एफ वर्गों में विभाजित किया है। सी वर्गों के भाण्डों का सतही रूप क्वेटा आर्द्र भाण्ड के अनुरूप है। उत्कीर्ण अलंकरण और अपेक्षाकृत मजबूत मृद्भाण्ड वर्ग D की विशेषताएँ हैं।

(ii) हड़प्पा संस्कृति

हड़प्पा संस्कृति के अवशेष एक विस्तृत भू-भाग में मिलते हैं। कुछ विद्वानों के मतानुसार इस संस्कृति का फैलाव लगभग 8,40,000 वर्ग मील में था। पूर्व से पश्चिम में इसका विस्तार आलमगीरपुर से सुत्कगनडोर व उत्तर-दक्षिण में ढेरभाजरा से मलवन तक है, (आरेख 5)। यह विवादास्पद है कि इस संस्कृति का इतना विस्तृत फैलाव थोड़े ही काल में हुआ या; इसके व्यापन में लंबा समय लगा। इसकी विवेचना हम अध्याय 4 में करेंगे। एक निश्चित पारिस्थितिकीय परिवेश में हड़प्पा संस्कृति का विकास, उसकी एकरूपता तथा दूसरी संस्कृतियों से भिन्नता की हम अध्याय 2 में विवेचना कर चुके हैं।

व्हीलर के मतानुसार हड़प्पा संस्कृति की निम्नलिखित विशिष्टताएँ हैं -

(i) सैंधव मोहरें, (ii) सैंधव लिपि, (iii) अंतर्भेदी वृत्त डिजाइन, शल्क प्रतिरूप, पीपल का पता, सैंधव शैली में चित्रित मयूर, (iv) नुकीले आधा वाले चषकनुमा आकार (कुल्हड़), बहुल छिद्रित बेलनाकार पात्र, S-पार्श्वक मर्तबान आदि (आरेख 6)। मोटे मजबूत लाल

स्लिप वाले मृद्भाण्डों की सपीठ थालियाँ (ये हड़प्पा संस्कृति से बाहर भी मिलती हैं), (v) पकी मिट्टी के त्रिकोण, केक (vi) काचली मिट्टी और शंख के जटिल वृक्क (Kidney) आकार, (vii) नलाकार छिद्र वाले चक्रिक मनके।

अन्य विशिष्टताओं में हम निम्नलिखित धातु के उपकरणों को गिना सकते हैं : उस्तरा चाकू, मुड़े सिरे के पत्राकार फलक, चौड़े सिरे की छेनी, कांटेदार बाणाग्र, (मछलीमार कांटे आदि)। तुलादण्ड भी हड़प्पा की अभूतपूर्व देन है। इनके अतिरिक्त सड़कों और मकानों की
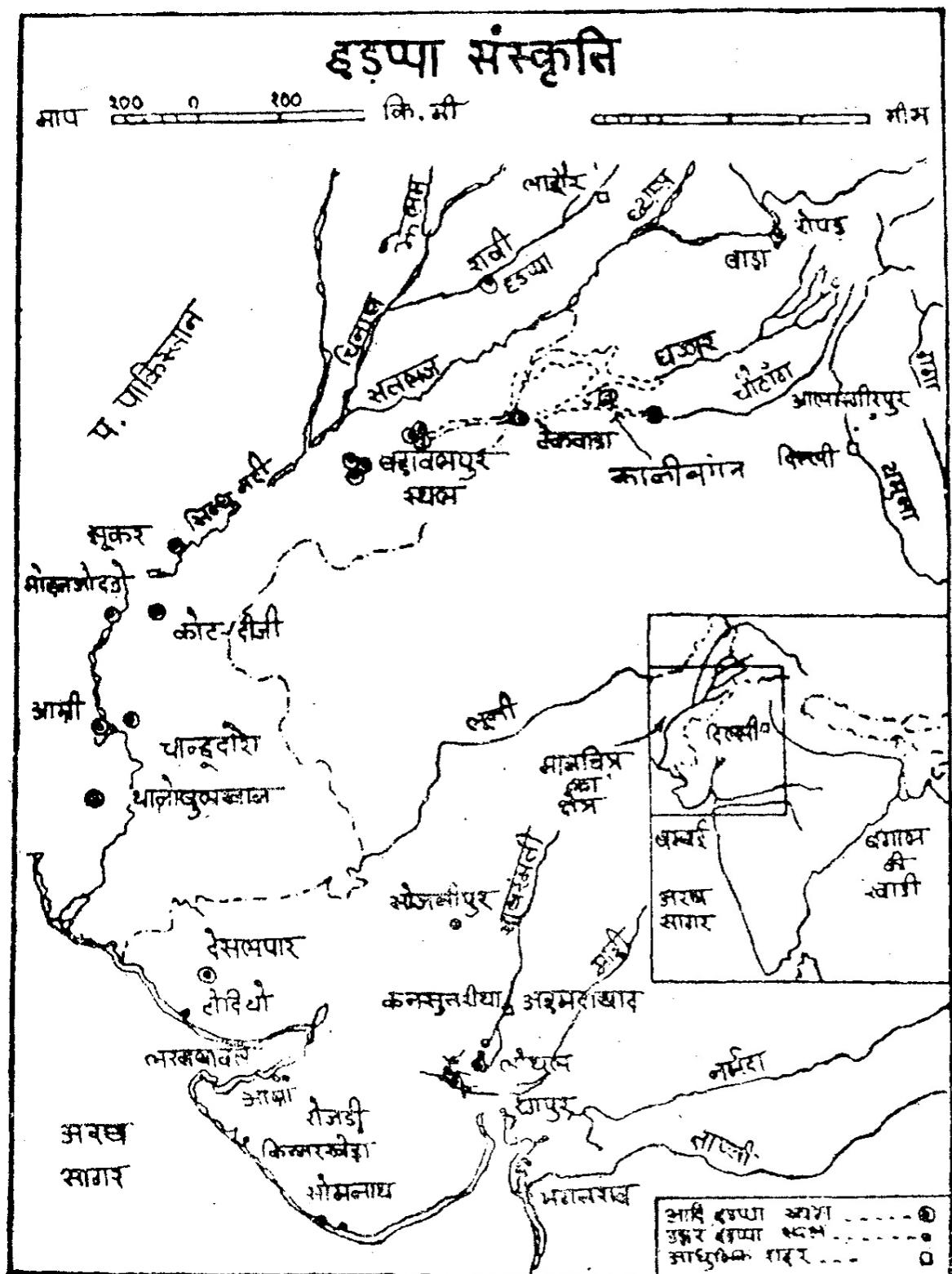
आरेख 5 : हड़प्पा संस्कृति के स्थल
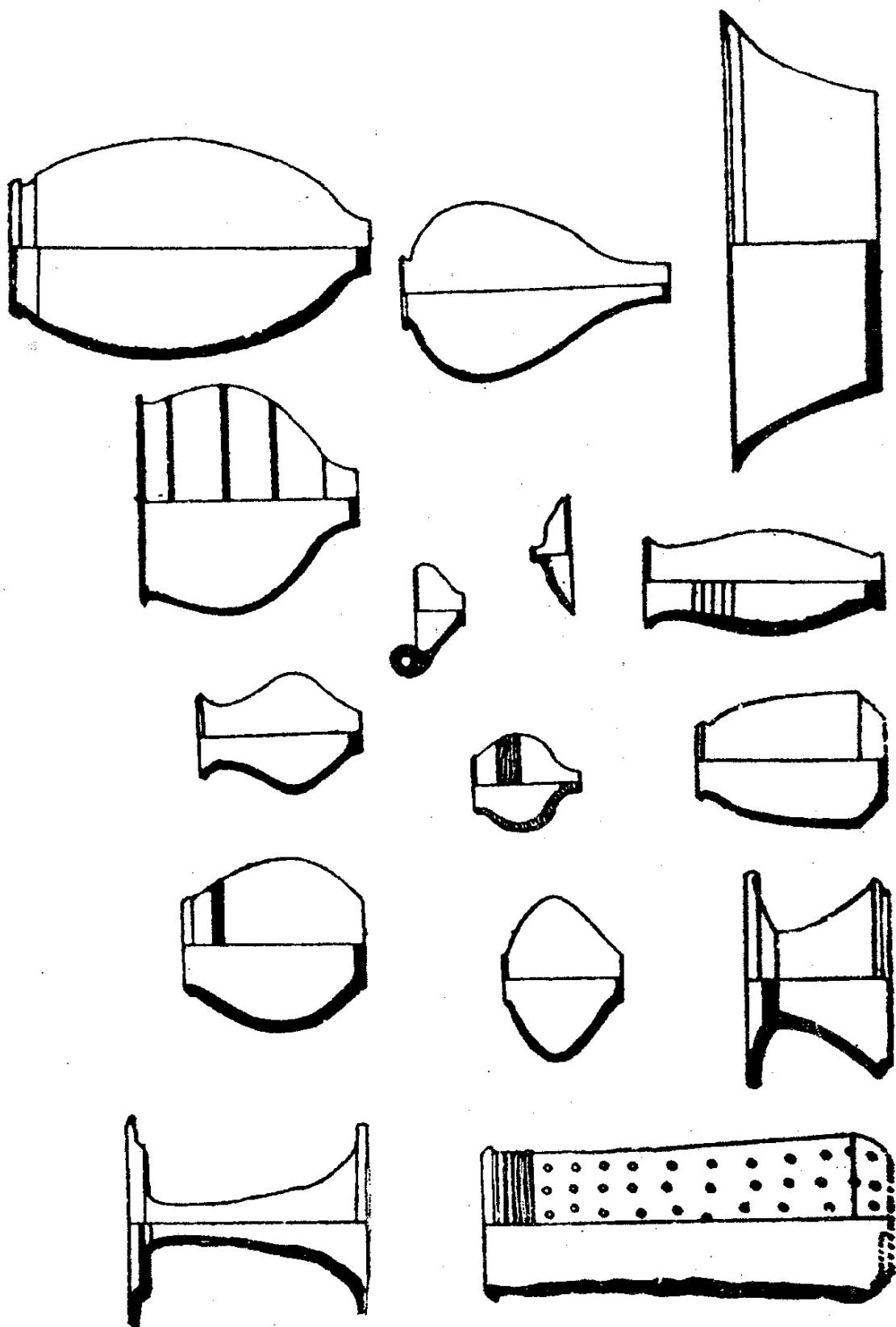
आरेख 6 : हड़प्पा संस्कृति के मृद्भाण्ड-प्रकार

ऐसी योजनाबद्ध संरचना किसी दूसरी समकालीन संस्कृति में नहीं मिलती।

सभी हड़प्पा स्थलों की उपर्युक्त विशिष्ट विशेषताएँ हैं। अतः हड़प्पा संस्कृति के मुख्य स्थलों की समान विशेषताओं के बजाय हम उनकी विभिन्नताओं पर प्रकाश डालेंगे।

(क) पंजाब, सिन्ध और दोआब

(i) हड़प्पा

पाकिस्तान में मांटगुमरी जिले हड़प्पा स्थल का विस्तृत उत्खनन किया गया है। इस स्थल के नाम पर ही हड़प्पा संस्कृति का नामकरण हुआ। बहुत बड़ी संख्या में हड़प्पा की ईंटों की लूटपाट के कारण, बारह सालों के उत्खननों के परिणाम विशेष उत्साहवर्धक नहीं रहे। दुर्ग के AB टीले के परकोटे से नीचे के तल के 20" गहरे निक्षेप से राना घुंडई IIIC प्रकार के ठीकरे उपलब्ध हुए। दुर्ग 460 X 215 गज समानांतर चतुर्भुज आकार का है। भीतरी इमारत, भूमितल से 20' से 25' ऊपर, कच्ची मिट्टी की ईंटों पर निर्मित हैं। इसके चारों ओर से रक्षात्मक किलेबंदी की गयी है। कालांतर में बुर्ज व पुश्ते भी जोड़े गये। उत्तर-पश्चिम में प्रवेश द्वार बने हुए लगते हैं। चबूतरों पर निर्मित आवासी इमारतों की योजना बहुत स्पष्ट नहीं लगती। एफ टीले से दो पंक्तियों में बने श्रमिकों के आवास मिले। पक्की ईंटों के बने 17 गेहूँ कूटने के चबूतरे, जले गेहूँ के अवशेषों के साथ मिले। सबसे महत्त्वपूर्ण भवन दो खण्ड वाला अन्नागार है। यह 23' चौड़े मार्ग के दोनों ओर बना है। प्रत्येक खण्ड (50' X 20') में छह कक्ष थे जिनमें वायु परिवहन के लिए अनेक नलिकाएँ बनी थीं। इसी प्रकार के अन्नागारों का वर्णन मेसोपोटामिया के प्राचीन साहित्य में मिलता है, यद्यपि इसकी पुष्टि अभी तक पुरातात्त्विक प्रमाणों से नहीं हुई है। व्हीलर के मतानुसार इन दो सैंधव अन्नागारों के विशिष्ट परिरूप व वास्तुकला की तुलना में प्राचीन संसार में कोई अन्नागार नहीं मिलता। दुर्ग के अंदर स्थित सम्पूर्ण अन्नागार श्रमिक आवास तथा सम्बन्धित इमारतें आदि शासन-तंत्र से इनकी महत्त्वपूर्ण स्थिति का ज्ञान कराते हैं।

यह समझा जाता है कि R 37 कब्रगाह उत्तरकालीन हड़प्पा के साधारण नागरिकों की है। विस्तारित शवाधानों के साथ बरतन आदि भी मिलते हैं। शवों का सिर उत्तर की ओर हैं। इनमें दो शवाधान उल्लेखनीय हैं। पहले शवाधान के गढ़े के चारों ओर कच्ची ईंटों की चिनाई है। दूसरे शवाधान से प्राप्त शव-पेटी, मेसोपोटामिया के दाह-संस्कार रीति का स्मरण कराती है। जी क्षेत्र से कुछ लम्बी हड्डियों के साथ पूर्ण व खंडित खोपड़ियों का ढेर मिला। इनके महत्त्व के विषय में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

(ii) मोहनजोदड़ो

हड़प्पा की तरह मोहनजोदड़ो भी एक कृत्रिम टीले पर बना है। यहाँ भी एक दुर्ग व एक निचला शहर मिला है। 1950 के गहरे उत्खनन से प्राप्त सामग्री में कहीं भी सांस्कृतिक व्यतिक्रम नहीं है। दुर्ग का चबूतरा 43" चौड़े कच्ची ईंटों के बाँध से सुदढ़ किया गया है। चबूतरे के तल के साथ एक पक्की ईंटों की बड़ी नाली बनायी गयी थी। उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट होता है कि प्रारम्भ से ही बाढ़ नगरनिवासियों के लिए एक समस्या रही। सम्पूर्ण परिधि में बुर्जियों से दुर्ग को सुरक्षित किया गया था। हड़प्पा की अपेक्षा यहाँ की प्रतिरक्षा व्यवस्था अधिक जटिल है।

1950 के उत्खनन से (विशाल स्नानागार से पूर्व निर्मित) एक विशाल अन्नागार 150'X75; के आकार का मिला। यह समझा जाता है कि अन्नागार से उत्तर पश्चिम में स्थित एक लंबी विशाल इमारत (230'X78') प्रधान पुरोहित की रही होगी।

अन्नागार, विशाल स्नानागार, परिषद् भवन, सभा भवन, दुर्ग की वाह्य किलेबंदी, दुर्ग आदि विभिन्न आकारों की संरचनाएँ, सिन्धु सभ्यता के धार्मिक व लौकिक प्रशासन के संमिश्र रूप का आभास देती है।

शहर की किलेबंदी के भी अवशेष मिले हैं। मुख्य मार्गों का जाल, शहर को भवनों के छह या सात खण्डों में विभाजित करता है। मकानों के दरवाजे मुख्य मार्ग की अपेक्षा गलियों में खुलते थे। मकानों में प्रायः एक आँगन, कुआँ, स्नानागार और शौच-गृह होता था। पानी के निकास के लिए नालियाँ बनीं थी। संभवतः मकान दुमंजिले होते थे। प्राप्त अवशेषों के आधार पर यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि दुर्ग शहर के ठीक मध्य में बना था। यह समझा जाता है कि डी.के. क्षेत्र से प्राप्त 250' लम्बी इमारत किसी महल की होगी। फानाकार ईंटों से निर्मित मिट्टी से पुते हुए वृत्ताकार गर्तों में धातुकर्मीय मल के अवशेष मिले हैं। परन्तु निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि इन गर्त्तों का क्या प्रयोग था। वी.आर. क्षेत्र में एक विशाल, (87'X64.5') साफ-सुथरे फर्श वाली इमारत मिली है। इसके एक कमरे में पंचमुखी गर्त बने हैं। अतः यह अनुमान किया जाता है कि यह शायद जलपानगृह रहा होगा। एच.आर. क्षेत्र से (तथाकथित A_1) भवन की एक महत्त्वपूर्ण इमारत मिली है, जिसकी दीवारें 52'X40' हैं और 4' मोटी हैं। इसके पास ही एक दाढ़ी वाले आदमी की बैठी हुई मूर्ति मिली है, जो काफी प्रसिद्ध है। व्हीलर के विचार से यह एक मंदिर रहा होगा। इस महत्वपूर्ण क्षेत्र का उत्खनन पुनः किया जाना चाहिए।

यद्यपि मार्ग कच्चे थे, पर नालियाँ पक्की ईंटों की बनी थीं। पर कुछ अंतर पर बने मानुसमोखे (Manholes) संभवतः म्युनिसिपल कर्मचारियों द्वारा सफाई करने के लिएं बनाये गये थे। दुर्ग आदि के निर्माण में, बाढ़ से बचाव के लिए कई सावधानियाँ बरती गयी थीं। डी.के. क्षेत्र में कम से कम तीन भीषण बाढ़ों ने अपने अवशेष छोड़े हैं। उत्तर कालीन चरणों में ह्रास के बहुत बड़े प्रमाण उपलब्ध होते हैं।

मोहनजोदड़ों से नियमित शवाधान नहीं मिलते, फिर भी अस्थि-कलश के साथ कोयला और राख व फुटकर शवाधान सामग्री प्राप्त हुई है। कालीबंगन के निचले स्तरों में भी अस्थि-कलश संभवतः अंत्येष्टि संस्कार में उपयोग किये जाते थे। लेकिन मोहनजोदड़ों के विपरीत वहाँ शवाधान कब्रगाह क्षेत्र में मिलते हैं।

ताम्र व कांसे के भाले, चाकू, छोटी तलवारें, बाणाग्र, कुल्हाड़ी, उस्तरे, पात्र और तवा आदि उपकरण प्रचलित थे। जूते के फर्मे के प्रकार की कुल्हाड़ियों का प्रयोग किया जाता था। सीमित रूप में इनका तथा बहुल प्रकार के चर्ट फलकों का उपयोग कृषि-कार्य के लिए भी शायद होता था। पत्थर के बर्मे व गदा-सिर आदि शिल्प उपकरण भी प्रचलित थे।

मोहनजोदड़ों से उपलब्ध एक मोहर व ठीकरे पर रेखांकित एक विशेष प्रकार के जहाज के चित्र से प्रतीत होता है कि पोत-परिवहन होता था। संभवतः ऊँट, गधे व घोड़े भी यातायात के साधन थे। बैलगाड़ी के प्रयोग का आभास हमें ठोस पहाड़ियों वाली गाड़ी के एक खिलौनों से होता है। इसकी पुष्टि चांहुदड़ों से प्राप्त चार पहियों की गाड़ी से होती है। सैंधवों के हाथी को पालतू बनाने के विषय में अटकलें ही लगायी जा सकती हैं। कूबड़दार चौपाये, सुअर (?) कुत्ता और बिल्ली अन्य पालतू जानवर थे।

रुपये के परम्परागत 16:1 अनुपात की तरह ही छोटे तौल भार द्विकर्मी अनुपात (1,2,1/3x8,8,16,32 से 12800) और उच्च तौल भार दशमलव अनुपात में थे, भिन्नात्मक तौल 1/3 थी। संभवतः उनका फुट 13.2" का दशमलव विभाजन वाला था। 0.367" प्रमाण वाली एक कांस्य छड़ क्यूबिट पद्धति का प्रचलन इंगित करती है।

विशेष (Triticum compactum और Triticum sphaero coccum) किस्म के गेहूँ और जौ (Hordeum vulgare) के अवशेष मिले हैं। आटा पीसने के लिए सिल-बट्टा (Sadde quern) प्रयुक्त होता था। जले हुए मटर, खरबूजे के बीज, तिल और खजूर की गुठलियाँ भी मिली हैं। सूती कपड़े और सन के रेशे से निर्मित वस्तुएँ भी प्रचलित थीं।

(iii) कोटदीजी

खान के मतानुसार कोटदीजी में एक आदि हड़प्पा स्तर मिला है, जिससे चित्रित मृद्भाण्ड सामान्यतः नहीं मिलते। इस स्तर के मृद्भाण्डों में मोर, मृग, मत्स्य-शल्क और जुड़ी हुई गेदें आदि का अपरिष्कृत चित्रण हुआ है। मृद्भाण्डों की लाल स्लिप कच्ची है। कोटदीजी के विस्तृत हड़प्पा स्तर से कांस्य (?) की चपटी कुल्हाड़ी फलक, बाणाग्र, छेनी, अंगूठी, दोहरी व इकहरी चूड़ियाँ आदि मिली हैं।

(iv) रोपड़

यह हड़प्पा संस्कृति का उत्तरी सीमा का स्थल है जो कि सतलज क्षेत्र के मैदानी क्षेत्र में शिवालिक पहाड़ियों के चरणों में बसा है। इमारतों के अवशेषों में नदी के रोड़े, कंकड और पकायी हुई व कच्ची ईटों का प्रयोग किया गया है। मृद्भाण्डों में विविधता मिलती है। कुल्हड़ बहुत कम संख्या में मिले हैं, ऊपरी सतहों में तो मिलते ही नहीं कब्रगाह आवास क्षेत्र से 160' दूर है। यह कालान्तर में गढ़ों द्वारा बहुत क्षतिग्रस्त हो गया था। विस्तारित शवाधान वाली कब्रें लगभग 8'X3'X2' आकार की हैं। इन कब्रों में सिर उत्तर पश्चिम दिशा में रखा गया था। अधिकांश शवाधानों के साथ मृद्भाण्ड (2 से 26 तक) मिलते हैं। लेकिन एक उदाहरण ऐसा मिला है जिसमें पहले मृद्भाण्डों को क्रमवार रखकर मिट्टी से ढका गया। तत्पश्चात् शव रखा गया संभवतः व्यक्ति के पदानुसार ही मृद्भाण्ड शवाधान के साथ रखे जाते थे। इस स्थल से मातृ देवी की कोई भी मूर्ति नहीं मिली, लेकिन पीठ पर बिना उभार वाली, एक सेलखड़ी की मोहर उपलब्ध हुई।

(v) आलमगीरपुर

मेरठ जिले में, यमुना नदी की सहायक नदी हिंडन के तट पर स्थित, आलमगीरपुर हड़प्पा संस्कृति का पूर्वी स्थल है। चकले, रीछ और साँप की मृण्मूर्तियाँ प्रमुख उपलब्धियाँ हैं।

(ख) राजस्थान

(i) कालीबंगन

कालीबंगन सूखी हुई घग्गर नदी के तट पर स्थित एक प्रसिद्ध हड़प्पा स्थल है। लाल और थापड़ ने इसका उत्खनन किया और इसके दो टीलों से प्राग्हड़प्पा व हड़प्पा संस्कृतियों के अवशेष खोज निकाले। प्राग्हड़प्पा स्तर की ही दीवारों को सैंधवों ने किलेबंदी के लिए ऊँचा उठाकर उनमें ही उत्तर और दक्षिण भाग में बहिर्गत दीवारें, बुर्ज व प्रवेश द्वार बनाये। दुर्ग के अन्तर्गत हड़प्पा के विपरीत, किसी भी स्थान पर परकोटा किसी भी मंच के साथ बद्ध नहीं है। रास्तों व आम भागों की चौड़ाई 1.8 और 7.2 मीटर के बीच थी। ये सड़कें 1.8 मी. की इकाई की नाप से बनी हैं। यह इकाई न बड़े फुट (13.2") न कुंबिट (120. 6") के अनुरूप है इसलिए महत्त्वपूर्ण है, सड़कों पर नालियाँ न होने के कारण पानी ने सड़कों को काट दिया था।

दीर्घकाय व साँडों की जुड़वाँ पैरों वाली विशिष्ट प्रकार की मृण्मूर्तियाँ मिली हैं। मृण्मूर्तियों ने नर सिरों और आक्रामक साँड का मोहनजोदड़ों के नमूनों से बहुत साम्य है।

विभिन्न स्तरों के मकानों का एक उल्लेखनीय लक्षण यह है कि उनके अग्निकुंड अंडाकार या आयताकार हैं। इनका महत्त्व क्या था, यह अभी तक अज्ञात है। इनके बनाने की विधि निम्नलिखित थी। सर्वप्रथम एक उथला गर्त खोदा गया जो आकार में अंडाकार या आयताकार था। इस गर्त में आग जलायी जाती थी और मध्य में मिट्टी का एक बेलनाकार या आयताकार (धूप में सुखाया हुआ या पकाया हुआ) मूसल सा जमाया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि पकी मिट्टी के केक धार्मिक कृत्यों के लिए प्रयुक्त होते थे। प्रत्येक मकान में अग्निकुंड बने हुए थे जो कि लोथल के अग्नि-कुंडों का स्मरण दिलाते हैं। दोनों ही टीलों में प्राग्हड़प्पा व हड़प्पा मृद्भाण्ड साथ-साथ मिलते हैं। प्राप्त सामग्री में बेलनाकार मोहर उल्लेखनीय है।

शवाधान तीन प्रकार से किया जाता था। (i) विस्तारित शवाधानों के साथ अंत्येष्टि पात्र रखे जाते थे; (ii) वृत्ताकार गर्त शवाधान में बिना अस्थि अवशेषों के, अस्थि पात्र व अन्य लघु पात्र रखे जाते थे; (iii) आयताकार गर्त के साथ, बिना अस्थि अवशेषों के अंत्येष्टि पात्र रखे जाते थे। अंतिम प्रकार के शवाधान से प्रतीत होता है कि पात्रों को गर्त में रखने व उन्हें अंतिम रूप से उभरने में समय लगा होगा। 70 पात्रों वाली कच्ची ईंटों से चिनी कब्र संभवतः किसी धनाढ्य व्यक्ति की रही होगी। इस कब्र में लिटाये गये अस्थिपंजर

का सिर उत्तर की ओर रखा गया था। शवाधानों के इस वर्गीकरण का आधार ज्ञात नहीं हो सका है। एक स्थान पर एक पात्र - शवाधान के गर्त ने एक आयताकार कब्र को काटा है।

घरेलू कचरा व जानवरों के अवशेष फर्श में पड़े मिले है। इनमें भैंस, हाथी, ऊँट, बकरी, गधा, चीतल, मुर्गा, कछुआ, गैंडा तथा बड़ी संख्या में सीपों के अवशेष उल्लेखनीय हैं। सड़कों पर कूड़े व पशुओं के अवशेष बिखरे पड़े मिले। सड़कों पर नालियाँ खुलती थीं। कालीबंगन की सड़कों पर जल निकास व्यवस्था की अनुपस्थिति, वहाँ के नागरिक-मानों के ह्रास की द्योतक है।

कालीबंगन के प्राग्हड़प्पा व हड़प्पा सांस्कृतिक स्तरों से प्राप्त समान डिजाइन निम्नलिखित हैं : मत्स्य शल्क, पीपल का पत्ता, रेखांकित चिह्न सहित रस्सी के निशान; सपीठ थालियों का आकार, ढक्कन, बैल और छकड़ा गाड़ी, सीप और पकी मिट्टी की चूड़ियाँ, सेलखड़ी के चक्रिक मनके, चक्की का पत्थर, धातुशोधन का ज्ञान, चिनाई में इंगलिश बाँड (म्दहसपी इवदक) का प्रयोग और नगर की किलेबंदी। इसके विपरीत ईंटों के आकार में, काल I में मोहरों का अभाव, भाण्डों के प्रकार, मकानों का दिशा-निर्धारण व फलक के आकार व सामग्री में असमानताएँ हैं।

लेखन कला सभ्य समाज का विशेषक है। हड़प्पा संस्कृति के नागरीकरण के फलस्वरूप ही इसका आविर्भाव हुआ। अन्य स्थलों के समान ही, कालीबंगन में भी हड़प्पा संस्कृति, कई नवीनताओं के साथ प्रकट हुई। ऐसा प्रतीत नहीं होता कि यहाँ पर इसका विकास धीरे-धीरे प्राग्हड़प्पा संस्कृति से हुआ हो।

अब तक प्राप्त संक्षिप्त प्रकाशनों के आधार पर यहाँ के ताम्र-कांस्य उद्योगों का विस्तृत विवरण नहीं दिया जा सकता।

(ग) सौराष्ट्र

(i) लोथल

सौराष्ट्र प्रायद्वीप कें इस सैंधव संस्कृति के शहर का उत्खनन राव ने किया। यह स्थल एक दलदली निचली भूमि में, जो मूलतः भोगावों और साबरमती नदियों का संगमस्थल रहा होगा, स्थित है। नदियों के मुहाने के सान्निध्य के कारण इसकी बरबादी होती रही और अंततोगत्वा नदियों ने ही इसका संपूर्ण अंत कर दिया। संकालिया के मतानुसार लोथल अपने स्वर्णकाल में समुद्र के बहुत निकट बसा था। इसके काल I से प्रौढ़ हड़प्पा व काल II से उत्तर हड़प्पा संस्कृति के अवशेष मिलते हैं। काला और लाल भाण्ड-काल I से ही मिलता है।

शहर छह खण्डों में विभाजित था। प्रत्येक खण्ड कच्ची ईंटों के एक विस्तृत चबूतरे पर बना था जो कि एक दूसरे से 12' से 20' चौड़े मार्ग से जुड़े हुए थे। कुछ मकानों में

बरामदे थे तो कुछ में केवल प्रांगण। एक विशाल भवन में विस्तृत जल-निकास की व्यवस्था थी, व इसकी अलग से दीवार थी। यहाँ पर एक बहुत बड़ी पक्की ईंटों की इमारत के अवशेष मिले हैं, जिसका आयाम हैं : 710'X124'। ऐसा प्रतीत होता है कि यह एक नौका घाट रहा होगा। पकी मिट्टी के केक, गेंद और जली मिट्टी के साथ, 4'X4' आकार की कुछ संरचनाएँ मिली हैं। कभी-कभी इनके साथ एक बड़ा चित्रित मर्तबान (जार) भी रखा होता था। ये सब उनके धार्मिक कृत्यों का आभास देते हैं। दोनों ओर धुएँ की कालिख से पुती एक चम्मच का मिलना इस सिलसिले में महत्वपूर्ण प्रमाण हैं। एक कच्ची ईंटों की इमारत के अवशेष मिले हैं, जिसमें 12 खण्ड हैं और प्रत्येक खण्ड 12' वर्ग का है, 3½' चौड़ी वायु-नलियों द्वारा विभाजित हैं। व्हीलर के विचार से संभवतः ये चबूतरे (मोहनजोदड़ों की तरह) अन्नागार के आधार थे। अन्नागार लकड़ी का होने के कारण शायद जल गया था। मुड़ी हुई और जली हुई मिट्टी की मोहरें, रखे हुए गट्ठरों से टूट कर नीचे नालियों में गिर गयी थीं।

राव को लोथल की सतही सामग्री से एक सेलखड़ी की मोहर मिली है, जिसका पृष्ठ भाग उभरा हुआ है और अग्र भाग में एक युगल कलपुछ (Gazelle) अंकित है। इसकी तुलना कुवैत के निकट फैलका, बारबारा और रास-अलकला की मोहरों से की जा सकती है, जो कि 'फारस की खाड़ी की मोहरें' नाम से प्रसिद्ध हैं। ये मोहरें गोल हैं और इस तरह मोहनजोदड़ां की चौकोर और मेसोपोटामिया की बेलनाकार मोहरों से भिन्न हैं। इसी प्रकार की 17 मोहरें मेसोपोटामिया से मिली हैं। उनमें से बहुतों में सिन्धु लिपि भी अंकित है। स्पष्टतः ये मोहरें सिन्धु सभ्यता के इस क्षेत्र व मेसोपोटामिया के बीच व्यापार करने वाले बहरीन के व्यापारियों के हाथ यहाँ पहुँची।

सिन्धु सभ्यता और मेसोपोटामियों के सम्पर्क के विषय में हम आगे अध्याय 4 में लिखेंगे। मध्य एशिया में तुर्कमानिया के हाल के उत्खनन से प्राप्त तथ्यों से स्पष्ट होता है कि नभाज्गे काल V व VI का संपर्क हड़प्पा से था। अल्टीन डेपे के उत्खनन से प्राप्त मृद्भाण्डों के आकार, मनके, धातु उपकरण, चर्ट फलक, मृण्मूर्तियाँ और मोहरों में अंकित पशु-चित्र भी, हड़प्पा से सादृश्य दर्शाते हैं। अधिकाँशतः यह संबंध लगभग 2000 ई.पू. रहा होगा। उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि हड़प्पा का पश्चिमी व मध्य एशिया के शहरों से स्थल मार्गों द्वारा भी संबंध था।

180^0, 90^0, 45^0 कोणों को नापने के लिए एक सीप का उपकरण प्राप्त हुआ है। 1.7 मि.मी. के भागों में विभाजित हाथी दाँत का पैमाना और साहुल गोलक (Plumb bobs) भी मिले हैं। ताम्र कांस्य उपकरणों में एक दर्पण, सुई, मत्स्य कांटा, छेनी, बरमा, उत्कृष्ट आरी के टुकड़े आदि मिले हैं। छकड़ा गाड़ी, नाव व घोड़ों के प्रयोग के प्रमाण मृण्मूर्तियों में बने उनके प्रतिरूपों से मिलते हैं।

(ii) सुरकोटडा

सुरकोटडा जिला कच्छ में स्थित एक स्थल है। यहाँ पर एक बहुत बड़ा टीला था जिसका जगतपति जोशी ने उत्खनन किया है। इसमें प्रकाल I का एक दुर्ग बना मिला जिसका परकोटा कच्ची ईंटों और मिट्टी के लौंदों का बना था। परकोटे के बाहर से एक अनगढ़ पत्थरों की दीवार थी। इस प्रकाल के मुख्य मृद्‌भाण्ड सैंधव प्रकार के हैं। इसके अतिक्ति कुछ बहुरंगी, दूधिये स्लिप वाले मृद्‌भाण्ड भी मिलते हैं। शवाधान अस्थि-कलश प्रकार के थे। एक कब्र बड़ी चट्टान से ढकी मिली है। यह कब्र सैंधव संस्कृति में अभूतपूर्व है। प्रकाल I-बी में सैंधव मृद्‌भाण्डों का प्रचलन चलता रहा, पर एक प्रकार का नया लाल भाण्ड संभवतः नये तत्वों के आगमन का सूचक है। इस प्रकाल I-बी का अंत एक सर्वव्यापी अग्निकांड से होता है। सैंधव तत्व I-सी में भी निरन्तर बनाये रखते हैं, परन्तु इस प्रकाल में विशेष भाण्ड काले-लाल प्रकार के हैं। नुकीले पेंदे वाले सैंधव कुल्हड़ भी अधिक मिलने लगते हैं। इस स्थल से घोड़े की हड्डियों का मिलना महत्त्वपूर्ण है।

उपर्युक्त संक्षिप्त सर्वेक्षण के पश्चात् हम अब संबंधित प्रश्नों व समस्याओं का विश्लेषण करेंगे।

(घ) समस्याएँ और विवेचना

डेल्स ने उत्तर-पश्चिम भारतवर्ष से प्राप्त संचय सामग्री को विभिन्न वर्गों (ए से एफ) में बाँटा है। इन अपर्याप्त प्रमाणों के अधार पर कोई स्पष्ट चित्र नहीं उभरता। लेकिन इस युग में सारे क्षेत्र को (मुंडीगाक, कोटदीजी आदि) ग्राम-जीवन से नागरीकरण की ओर विकसित होते हुए देखते हैं। मुंडीगाक काल IV से दुर्ग व मंदिर के अवशेष मिलते हैं। मृद्‌भाण्डों (मुंडीगाक IV और दंबसदात काल II) पर कुम्हार के विशिष्ट अंकित चिह्न लेखन शैली के प्रारम्भ का आभास देते हैं। अचानक ही क्वेटा संस्कृति के स्थलों, नाल के उत्तर-कब्रगाह स्तर, आम्री के मध्यवर्ती काल, कोटदीजी के प्राग्हड़प्पा स्तर आदि से प्राप्त मृद्‌भाण्डों पर कुबड़े साँड का बहुत चित्रण उनके कृषि, यातायात व आर्थिक जीवन में पशु-शक्ति के महत्त्व के आभास को दर्शाता है। अफगानिस्तान से सिन्ध तक बहुरंगी मृद्‌भाण्डों की परम्परा (डेल्स का डी काल) का स्थान लाल पर काले भाण्डों की परम्परा ने ले लिया। ताम्र की मोहरें, धातु के आपेक्षिक अधिक चलन को इंगित करती है। इसी काल में दक्षिणी बलूचिस्तान, फारस की खाड़ी पर स्थित उम्मन नार आदि स्थल और मेसोपोटामिया के बहुत से स्थलों से उत्कीर्ण प्रस्तर धूसर भाण्ड के पात्र मिलते हैं। यह तथ्य इन स्थलों के बढ़ते हुए आपसी सम्पर्क व व्यापार के सूचक हैं। इन सब प्रमाणों से लगता है कि इस काल में यह सारा क्षेत्र नागरीकरण के प्रवेश द्वार पर खड़ा था।

उपर्युक्त सर्वेक्षण से स्पष्ट है कि उच्च प्रदेश के वासी बहुरंगी परम्परा के साथ पशु-पालन व कृषि-कर्म करते हुए भी काफी हद तक यायावर जीवन व्यतीत करते थे जबकि गिरिपाद व सिन्धु के मैदानी क्षेत्र में (आम्री) आये हुए लोग द्विरंगी परम्परा के साथ स्थायी कृषि-जीवन व्यतीत करने लगे थे और नागरीकरण की प्रक्रिया में अपना योगदान देने लगे

थे। स्पष्ट है कि पारिस्थितिकी नयी चुनौतियों के साथ नागरीकरण के द्वार खोलने में सहायता दे रही थी (देखें अध्याय 2)। घोष के मतानुसार 'सोथी मृद्भाण्डों की तुलना कुछ मानों में न केवल झोब (पेरियानो घुंडई) भाण्डों से बल्कि क्वेटा, केन्द्रीय बलूचिस्तान और हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ों के प्रारम्भिक स्तरों से तथा सरस्वती के लगभग सभी हड़प्पा स्थलों के मृद्भाण्डों से की जा सकती है। वे न केवल हड़प्पा संस्कृति के सरस्वती क्षेत्र में बल्कि हड़प्पा और मोहनजोदड़ों के भाण्डों में भी विशिष्टताएँ निरन्तर पाते हैं। कालीबंगन और संभवतः कोटदीजी में भी हड़प्पा तथा सोथी लोगों का सह-अस्तित्व केवल आकस्मिक कह कर नहीं टाला जा सकता। प्रत्युत, सोथी का हड़प्पा संस्कृति के उद्भव में योगदान रहा होगा। स्पष्ट है कि अन्य प्रारम्भिक संस्कृतियों की अपेक्षा हड़प्पा के उद्भव में सोथी संस्कृति एक दृढ़ आधार रही होगी। इसलिए सोथी को आदि हड़प्पा सैंधव कहना ही उचित होगा।' कालीबंगन के सैंधव अवशेषों का वर्णन करते हुए हमने उन विशिष्टताओं का विवरण दिया था जिसका उद्भव प्राग्हड़प्पा संस्कृति से हुआ था।

इसके विपरीत डेल्स का मत है कि यद्यपि सैंधव (हड़प्पा) कहे जाने वाले तत्त्व अफगानिस्तान से लेकर सिन्धु तक के स्थलों में मिलते हैं फिर भी आम्री और कोटदीजी के उत्खनन से प्रतीत होता है कि वहाँ प्रौढ़ हड़प्पा संस्कृति बहुत पहले बसी पूर्व-हड़प्पा बस्तियों पर थोपी गयी थी। खान के कथनानुसार मुश्किल से ही मृद्भाण्डों का कोई आकार या डिजाइन हड़प्पा और कोटदीजी में एक सा होगा। इसीलिए घोष ने प्रश्न किया है कि प्रौढ़ हड़प्पा, कौन सी संस्कृति थी और उसे प्रौढ़ता कहाँ से मिली?

ग्रामों में नागरीकरण की प्रक्रिया में होने वाले दूरगामी परिवर्तनों के आधार पर सिन्हा ने हड़प्पा संस्कृति के आकस्मिक आविष्कारों व नवीनताओं की उत्पत्ति की व्याख्या की है। मृद्भाण्ड शैलियों में परिवर्तन, धातु-कर्म की अत्यधिक वृद्धि, वास्तु कला के नये मान और नयी सामग्री का उपयोग, कला तथा शिल्प में विविधता अपेक्षित कर रहा होगा। साथ ही कला और शिल्प का मानकीकरण (Standardization) भी सैंधव नागरिक जीवन का नैसर्गिक अंग था।

सामाजिक व आर्थिक दृष्टि से इस काल की वस्तुस्थिति का सिंहावलोकन करने पर प्रतीत होता है कि धातुकर्म के विकास, कृषि-सुधार, पशु-पालन व वायु-शक्ति के उपयोग से सुख-संपन्नता में वृद्धि हुई होगी। दूसरी ओर, इससे सांस्कृतिक समरूपता भी आयी फलस्वरूप अफगानिस्तान से सिन्धु तक का सारा क्षेत्र नागरीकरण की दहलीज पर आ खड़ हुआ, लेकिन नागरीकरण केवल सिन्धु में ही क्यों हुआ? इसका विवेचन बाद में करेंगे।

उपर्युक्त सर्वेक्षण से निम्नलिखित समस्याएँ उभरती हैं –

(1) हड़प्पा संस्कृति में ताम्र की क्या भूमिका रही?

(2) प्राग्हड़प्पा की तुलना में हड़प्पा काल में ताम्र का बाहुल्य कितना था?

(3) धातु की अधिकता का क्या कारण था?

(4) पारिस्थितिकीय कारणों का क्या योगदान था? शहरों का उद्भव पहाड़ों की अपेक्षा मैदानी क्षेत्र में क्या हुआ?
(5) चर्ट उपकरणों का सैंधव अर्थव्यवस्था में क्या महत्त्व था?
(6) हम कैसे हड़प्पा की एकरस संस्कृति के विपरीत पाक-ईरानी सीमा प्रदेश की विविध संस्कृतियों की व्याख्या करते हैं?
(7) उत्तर-पश्चिम की अनेकों संस्कृतियों के कालानुक्रम में आपेक्षिक स्थिति क्या है? इस क्षेत्र में धातु-विज्ञान तथा अन्य नवीन विशिष्टताओं के प्रसार की दिशा क्या है?

अगले अध्यायों में हम उपर्युक्त समस्याओं का हल ढूँढ़ने के लिए विभिन्न प्रमाणों का संश्लिष्ट विश्लेषण करेंगे।

III अन्य ताम्राश्मीय संस्कृतियाँ

इन अन्य ताम्राश्मीय संस्कृतियों के विषय में प्रकाशित केवल संक्षिप्त विवरणों के कारण तुलनात्मक अध्ययन में कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। ये कठिनाइयाँ मुख्यतः धातु तथा अन्य शिल्पों के विवरण प्राप्त करने में आती हैं। अतः पुरातात्त्विक प्रमाण प्राप्त करने में जहाँ तक संभव हुआ है हमने व्यक्तिगत संपर्कों से भी काम लिया। मुख्य ताम्राश्मीय संस्कृतियाँ मानचित्र (आरेख 7) में दिखायी गयी हैं।

(क) दक्षिणी राजस्थान

राजस्थान का दक्षिणी-पूर्वी भाग रेगिस्तान होते हुए भी उपजाऊ है तथा अरावली पहाड़ियों द्वारा संरक्षित है। भूतकाल में इस क्षेत्र में संभवतः अनेक जलवायु परिवर्तन हुए (देखें अध्याय 2)। अधिकांश काले-लाल मृद्भाण्ड स्थल, बनास व इसकी सहायक नदियों की घाटियों में केन्द्रित हैं।

(i) अहाड़ और गिलूँद

उदयपुर के पास, बनास नदी के किनारे अहाड़ और गिलूँद स्थलों से एक ताम्राश्मीय संस्कृति के प्रचुर प्रमाण मिले हैं, जो बनास संस्कृति के नाम से प्रसिद्ध हैं।

अहाड़ में पत्थरों की नींव पर बने, पत्थर और मिट्टी के मकान मिले। मकानों की मिट्टी की पुताई स्फटिक पिंडों से अलंकृत की गयी है। 30'X15' आकार के कुछ बड़े मकान भी मिले। गिलूँद में बड़ी इमारतों के अवशेष अधिक मिले हैं। पत्थरों की नींव पर भट्टे में पकायी गयी ईंटों की एक 36' की खुली दीवार व एक 100'X30' की एक विशाल संरचना मिली है जो एक पहेली बनी हुई है। सैंधव संस्कृति के अतिरिक्त (14"X6"X5" आकार की) पक्की ईंटों का प्रयोग वास्तव में पुरातात्त्विक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। कुछ चूल्हे
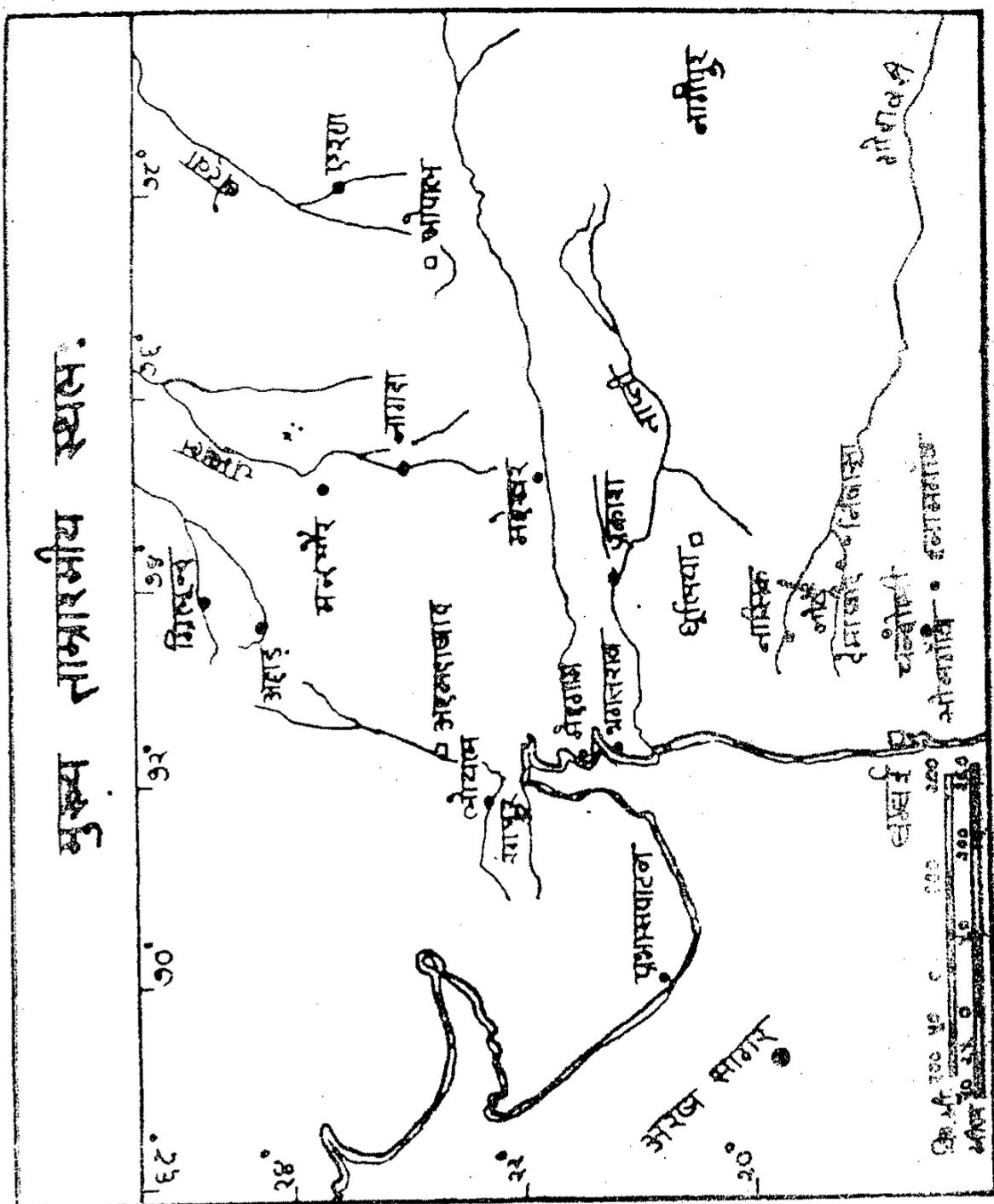
आरेख 7

काफी बड़े हैं। एक मकान में तो एक कतार में छह चूल्हे थे। ताम्र शिल्प उपकरणों में चार चपटी कुल्हाड़ियाँ चूड़ियाँ, आदि मिली हैं।

अहाड़ काल IA में पाण्डु और दूधिया स्लिप के भाण्ड प्रचलित थे। काल I-बी में प्रस्तर भाण्ड (Stone ware) के साथ सपीठ तश्तरियाँ और साधारण थालियाँ भी प्रचलित रहीं। काल I-सी के काला और काले-लाल कटोरों के स्कन्धों में किनारे बने थे। प्रस्तर पात्र विलुप्त हो गये। चित्रित काले-लाल भाण्ड विशेष बर्तनों में शुमार थे। लाल भाण्ड के संचयन पात्र का निचला भाग अनगढ़ ही है। चित्रित काले, सादे, चमकीले, धूसर, लाल और कुछ

बहुरंगी मृद्भाण्डों के ठीकरे भी उपलब्ध हुए हैं। दूधिये पर काला और काले-लाल भाण्ड, गिलूँद के ऊपरी तथा निचली सतहों से भी मिले हैं। नवदाटोली के सबसे निचले स्तरों से मिलने वाले दूधिया स्लिप भाण्ड पर नाचते हुए मानव चित्र वाले बरतन गिलूँद की ऊपरी सतह से ही मिलने लगते हैं। संकालिया के विचार से प्रस्तर पात्र की परम्परा यहाँ पश्चिम से आयी। यह समझा जाता है कि पतले पाण्डु और दूधिया स्लिप वाले, किरमिजी काले रंग से चित्रित मृद्भाण्ड भी बाहर से आयात हुए। आभ्री और नाल में भी ऐसे भाण्ड मिलते हैं।

संकालिया ने अहाड़ के तर्कुचक्कर या पकी मिट्टी के मनकों का सादृश्य ट्राय के नमूनों से किया है। उनके अनुसार, अहाड़ के अलावा अन्य किसी भी ताम्राश्मीय संस्कृति या प्राचीन ऐतिहासिक स्थलों से उत्कीर्ण तर्कुचक्कर (चांहुदड़ों के अपरिष्कृत नमूनों के अलावा) उपलब्ध नहीं हुए हैं। आकार की दृष्टि से सादृश्य न होते हुए भी, नागदा काल I के पकी मिट्टी के उत्कीर्ण मनके और तर्कुचक्कर समान प्रतीत होते हैं। संकालिया के मतानुसार लम्बे सींग वाले साँड और विविध प्रकार की गोटों (एक का सिरा मेढ़े का है) में सैंधव परम्परा का आभास होता है।

अग्रवाल और लाल दोनों ने ही लगभग नगण्य लघु-अश्मों का वर्णन किया है। लघु-अश्मों की अनुपस्थिति के कारण ही संकालिया बनास संस्कृति को केवल ताम्र-संस्कृति की संज्ञा देते हैं। इसी कारण बनास संस्कृति अन्य ताम्राश्मीय संस्कृतियों से भिन्न है।

चित्तौड़गढ़, उदयपुर और मंदसौर जिलों में काले-लाल मृद्भाण्डों के अनेक स्थल मिले हैं।

(ख) सौराष्ट्र

(i) रंगपुर

रंगपुर लोथल से 30 मील दक्षिण-पश्चिम में, भादर नदी की घाटी में पहाड़ोंसे लगे मैदानी क्षेत्र में स्थित है। भादर नदी के कारण यह क्षेत्र काफी उपजाऊ है। इस स्थल का समीपवर्ती समुद्री तट कटा-फटा होने के कारण यह क्षेत्र समुद्री व्यापार के लिए बहुत उपयुक्त था। रंगपुर के उत्खनक ने इसके काल I का समय 3000 ई.पू. निश्चित किया। इस काल में यहाँ केवल लघु अश्मों का ही प्रचलन था। मृद्भाण्ड के प्रयोग का कोई प्रमाण नहीं मिला। काल II के ए.बी.सी. प्रकाल हैं। काल II हड़प्पा संस्कृति का है। इस काल में कुल्हड़ और बीकर कम प्रचलित थे। अभ्रकी काले पर लाल हत्थेदार कटोरे, पाण्डु पर चाकलेटी, अनगढ़ धूसर भाण्ड आदि नये तत्त्व भी देखने को मिलते हैं।

रंगपुर के पाण्डु भाण्ड आभ्री के पाण्डु भाण्डों की तरह पतले और उत्कृष्ट नहीं हैं। चूनेदार मिट्टी (Calcareous Clay) लौह युक्त मिट्टी के विपरीत आक्सीकरण से लाल नहीं होती। इसके प्रयोग के कारण रंगपुर के मृद्भाण्ड पाण्डु हैं। मजूमदार के मतानुसार

बनास के दूधिया स्लिप वाले भाण्ड केओलिन (Kaolin) के प्रयोग के कारण ऐसे हैं। उनके रासायनिक विश्लेषणों द्वारा ज्ञात हुआ है कि बनास और रंगपुर भाण्डों में समानताएँ हैं। प्रकाल II-बी में, बाढ़ के कारण संभवतः लोग यहाँ से कूच कर गये। नतोदर कटोरों में परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। बीकर व कुल्हड़ विलुप्त हो गये व छोटे मर्तबान व चिलमिची का प्रचलन कम हो गया। अब सीधे किनारे वाले कटोरे प्रयोग में आने वाले अपरिष्कृत संरचना, अलंकरण की न्यूनता, प्रस्तर तौल भार और चर्ट फलक आदि के अभाव से ह्रास के चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं। इस प्रकाल में कोई भी कच्ची ईंटों का मकान, नाली और स्नानागार नहीं मिले। काल II-सी पुनरुत्थान का प्रकाल है। इस प्रकाल में चमकीले लाल भाण्डों (Lustrous Red Ware) का प्रादुर्भाव हुआ और भाण्ड चित्रण का बहुत प्रयोग व काले लाल मृद्भाण्डों का प्रचलन बढ़ गया। बड़े मकान बनने लगे। मृत्पिंड (Terra Cotta Cake) और जालीदार मर्तबान विलुप्त हो गये।

राव ने चमकीले लाल मृद्भाण्ड को, सैंधव मृद्भाण्ड परम्परा का ही विकसित रूप सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। राव के अनुसार अनगढ़ लाल-भाण्डों की बहुलता का कारण बारीक जलोढ मिट्टी का अभाव ही था। फलस्वरूप कुछ भाण्डों में अतिरिक्त अलंकरण किया गया है। लेकिन दूसरे स्थलों से प्राप्त चमकीले मृद्भाण्ड के विषय में उपुर्यक्त तर्क लागू नहीं होता। च.ला. भाण्ड (एल.आर. वेयर) तक तकनीकी आविष्कार है। गोले भाण्डों पर गेरू रगड़ कर, उन्हें बाद में आग में पकाने के पश्चात् चित्रित किया जाता था। प्रकाल II-ए और II-बी की तुलना में प्रकाल II-सी और III में रेखांकित (Graffitti) ठीकरों की वृद्धि महत्त्वपूर्ण है। राव के उत्खनन की रिपोर्ट से इस रेखांकन का काल स्पष्ट नहीं होता। लगभग 50 प्रतिशत रेखांकन सैंधव प्रकारों से पूर्णतः असमान है तथा शेष 50 प्रतिशत का सिन्धु लिपि से कोई संबंध नहीं नजर आता। वास्तव में सूर्य प्रतीक (राव के प्रतीक नं. 59, 60, तंबू (प्र. नं. 96) और घुड़सवार का (प्र.नं. 97) चित्रण संभवतः नये लोगों के आगमन का आभास देता है। काल III में च.ला. भाण्ड मुख्य भाण्ड उद्योग के रूप में प्रकट हुए। अब नैसर्गिक की अपेक्षा ज्यामितिक डिजाइनों को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। भाण्डों के आकार में भी परिवर्तन आ गया। काले लाल भाण्ड अधिक प्रचलित हो गये। इस काल में कांचली मिट्टी और सेलखड़ी के मनके लुप्त हो गये। उनके स्थान पर पकी मिट्टी के मनके प्रचलित होने लगे। इनके अतिरिक्त साँड, अयालदार घोड़े आदि की मृण्मूर्तियाँ इस काल की अन्य महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं।

विभिन्न प्रकालों से कुल 18 ताम्र उपकरण मिले हैं जिनका विवरण इस प्रकार है – प्रकाल II-ए से 7, प्रकाल II-बी से 1, प्रकाल II-सी से 9, प्रकाल III से 1। टीन मिश्रण का ज्ञान होते हुए भी उनका धातु शिल्प विकसित नहीं था (देखें अध्यायस 6)। अमरेली जिले में रूपवती के स्थानीय अयस्कों के इस काल में प्रयोग की क्या समभावनाएँ थीं, इसका विश्लेषण अध्याय 6 में करेंगे।

संभवतः क्रेस्टेड गाइडेड रिज (Crested guided ridge) तकनीक ज्ञात थी। लेकिन

चर्ट अप्राप्य होने के कारण कारण लंबे फलक नहीं बन सकते थे। कर-केतन भी दुर्लभ है। रंगपुर और देवालिया में यशब (Jasper), बादली पत्थर (Agate) के छोटे कंकड़ ही प्राप्य थे। इसलिए इनसे शल्क ही बन सकते थे, फलक नहीं। नये ताम्र भण्डारों की प्राप्ति के कारण (देखें अध्याय 6) भी प्रस्तर फलकों की न्यूनता संभव थी।

रंगपुर, देसालपुर, प्रभास, सोमनाथ आदि स्थलों में हड़प्पा संस्कृति का अनुक्रमण स्पष्ट दिखता है। दुर्भाग्यवश इन स्थलों का रेडियोकार्बन पद्धति द्वारा काल निर्धारण अब तक नहीं हो सका। संपूर्ण सौराष्ट्र हड़प्पा संस्कृति का उत्तरकालीन रूपान्तरण दर्शाता है। अतः इस संक्रमण काल का तिथिनिर्धारण होना बहुत महत्त्वपूर्ण है। हाल में जगतपति जोशी ने सुरकोटडा की खुदाई से इन समस्याओं पर विशेष प्रकाश डाला है।

(ii) प्रभास पाटन

सोमनाथ के निकट सौराठ जिले में प्रभास पाटन के उत्खनन से छह कालों का अनुक्रम मिला। इसके प्रथम काल से उत्तर हड़प्पाकालीन मृद्भाण्ड, लघु अश्म, खंडित काचली मिट्टी के मनके आदि मिले। च.ला. भाण्ड, लाल पर काला भाण्ड पर नये परिष्कृत डिजाइन और मृग-चित्रित ठीकरे प्रकाल II-ए की विशिष्टताएँ हैं। इस काल का एक अनगढ़ पत्थरों का फर्श भी मिला है। प्रकाल II-बी में च.ला. भाण्ड का आविर्भाव हुआ। काल III में काले-लाल मृद्भाण्डों के साथ लोहे का प्रचलन भी शुरू हो गया।

(iii) सोमनाथ

प्रभास पाटन से 2 मील दूर सोमनाथ के काल I के रंगपुर काल II के च.ला. भाण्ड के साथ किनारेदार कटोरे और अनगढ़ धूसर भाण्ड मिले। सपीठ थालियाँ इस काल में अति लोकप्रिय थीं। काले-लाल भाण्डों का चलन बहुत कम था। दस हजार छोटे सेलखड़ी के मनके, एक ताम्र कुल्हाड़ी, शल्क, फलक और क्रोड इस काल की अन्य प्राप्तियाँ थीं। काल II में च.ला. भाण्ड काफी प्रचलित हो गये, परन्तु ये अच्छी तरह अलंकृत नहीं थे। काले-लाल भाण्ड इस काल में पूर्ववत् प्रचलित रहे। काल III में प्रधानतः बढ़िया घिसाई किये काले-लाल भाण्ड, विविध प्रकार के कटोरे व तश्तरियाँ प्रचलित हुई। लालभाण्ड की स्थिति पूर्ववत् रही।

(iv) आमरा

जिला हलार में आमरा के काल I से हड़प्पा भाण्ड के साथ काले-लाल भाण्ड भी मिले। काल I व II के नमूने लखाभावल के सदृश्य हैं। लखाभावल के काल I का रंगपुर काल I से तादात्म्य है। पाण्डु स्लिप वाले धूसर ठीकरे दोनों स्थलों में मिलते हैं। लाल पालिश वाले भाण्ड प्रचुर मात्रा में, अनगढ़ काले लाल भाण्ड तथा जरदोंजी काम की एक सोने की बाली इस काल की विशेषताएँ हैं।

(v) देसलपुर

जिला कच्छ में देसलपुर के उत्खनन से दो संस्कृतियों का पता चला। काल I-ए हड़प्पा

संस्कृति का है। यह उल्लेखनीय है कि किले की दीवार की चिनाई पत्थरों से की गयी थी जिस पर बुर्ज बने थे। किले की दीवार के दूसरी ओर मकान बनाये गये थे। कच्ची ईंटों का आकार 50X25X12.5 से.मी. है। नीले-हरे आभा वाले रंग से चित्रित एक पतला धूसर मृद्भाण्ड मोहनजोदड़ों के कांचित भाण्ड (glazed ware) से मिलता है। प्रकाल I-बी में दुधिया स्लिप वाले द्विरंगी मृद्भाण्ड के मुख्य पात्र कटोरे व तश्तरियाँ थीं। काले, बैंगनी या लाल या भूरे रंगों से पात्रों को चित्रित किया गया था। सादे व धूसर रंग से चित्रित काले-लाल भाण्डों का प्रचलन इस प्रकाल की नवीनताएँ हैं। इस प्रकार में च.ला. भाण्ड बिलकुल नहीं मिलते। ताम्र के चाकू, छेनी, छड़ और छल्लों के अतिरिक्त चर्ट के पतले लम्बे फलकों का प्रयोग भी होता था। काल II में दुर्ग की दीवारों से चुराये गये पत्थरों से मकान बनाये गये थे : काले रंग से चित्रित लाल और दूधिया स्लिप वाले भाण्ड इस काल में लोकप्रिय हो गये थे।

(ग) मध्य भारत और महाराष्ट्र

महाराष्ट्र का अधिकांश भाग काली कपासी मिट्टी (Black cottonsoil) से ढका है। बीच-बीच में पर्णपाती और मिश्र पर्णपाती मानसूनी वनों के कटक हैं। दक्षिणी पठार के शुष्क पर्णपाती बन व डोलेराईट डाइक ग्रेनाइट व बेसाल्ट की पहाड़ियों की पारिस्थितिकी ताम्राश्मीयकालीन मानव को कृषि तथा पशु पालन के लिए उपयुक्त थी। नर्मदा की घाटी भी ताप्ती और गोदावरी की तरह है। मध्य भारत व दक्षिणी पठार की अधिकतर नदियों की संकीर्ण घाटियाँ एक दूसरे से पर्वतों और पठारों से विभाजित हैं। ऐसी पारिस्थितिकी अधिक कृषि उत्पादन व मानव-संपर्कों दोनों के अनुकूल नहीं है। चंबल की घाटी में तो इतनी थोड़ी जलोढ़ मिट्टी है कि लगता है कि यहाँ की बस्तियों का मुख्य उद्योग पत्थरों के अस्त्रों के लिए कच्चा माल प्राप्त करना रहा होगा।

(i) एरण

सागर जिले में बेतवा नदी पर, विन्ध्याचल पर्वतमालाओं के उत्तर में, एक पठार पर एरण स्थित है। इसकी स्थिति ही शायद एरण की संस्कृति के विशिष्ट व्यक्तित्व के लिए उत्तरदायी है।

इस स्थल से संस्कृति के चार कालों का अनुक्रम मिला। काल I ताम्राश्लीय है, काल II से लोहा प्राप्त हुआ तथा अन्य दो काल परवर्ती हैं। सफेद रंग से चित्रित काले-लाल भाण्ड लाल पर काला भाण्ड, एक चित्रित धूसर भाण्ड (दोआब के चि.धू. भाण्ड से भिन्न) काल I की विशिष्टताएँ हैं। मध्य काल से एक चमकदार गहरी लाल स्लिप वाले भाण्ड (क्या यह च.ल. भाण्ड है?) मिले, व अंतिम काल से टोंटीदार पात्र, परकोटा और खाई मिलती हैं। पत्थर की कुल्हाड़ियाँ परकोटे की मिट्टी से व अंतिम काल के स्तरों से भी मिलती हैं। ताम्र के टुकड़े के अलावा अन्य उपकरणों का विवरण अभी तक अप्रकाशित है। काल II की

विशिष्टताएँ हैं काले-लाल भाण्ड (जो आकार तथा बनावट में प्रथम काल से भिन्न हैं) और अल्प मात्रा में एन.बी.पी. व पंच-मार्क सिक्के।

(ii) नागदा

नागदा चंबल क्षेत्र में एक पठार के ऊपर स्थित है। यहाँ पर जलोढ मिट्टी के मैदान हैं ही नहीं। काल I के 22' निक्षेप से लाल पर काला और दूधिये पर काला मृद्भाण्ड मिले। यहाँ के डिजाइनों के समृद्ध भण्डार का तादात्म्य मध्य भारत के परिरूपों से है। मृद्भाण्डों में कलपुंछ, सूर्य प्रतीक, मृगशृंग आदि चित्रित हैं। मिट्टी व कच्ची ईंटों के बने मकान भी मिलते हैं। करकेतन, स्फटिक और तामड़ा पत्थर के फलक और क्रोड तथा पकी मिट्टी के मनके और उत्कीर्ण डिजाइन वाले तर्कु-चक्कर (अहाड़ जैसे) भी मिले हैं। काल II में काले और दूधिये भाण्ड के लुप्त होने के साथ ही काले-लाल मृद्भाण्डों का प्रादुर्भाव हुआ। इस काल में भी मिट्टी और कच्ची ईंटों की इमारतें पूर्ववर्ती बनायी गयीं। काल III में एन.बी.पी. प्रकट होती है। ताम्र उपकरण बहुत न्यून मात्रा में मिले।

नर्मदा नदी की संकीर्ण घाटी के अलावा सारा मालवा पठार चट्टानी है। बीच-बीच में रेगुर मिट्टी के छोटे-छोटे टुकड़े फैले हैं। दलदल क्षेत्रों में विविध प्रकार के जंगली धान पैदा होते हैं। नदियों की संकीर्ण उपजाऊ पट्टियों के कारण कृषक समुदाय अधिक नहीं पनप पाये (देखें अध्याय 2)।

(iii) कायथा

उज्जैन से 15 मील दूर कायथा एक अत्यन्त विशिष्ट ताम्राश्मीय सांस्कृतिक स्थल है। मजबूत भाण्ड लघु-अश्म काल II की विशेषता है। काल I से मध्याश्मयुगीन हथियार प्राप्त हुए। एक पाण्डु पर गुलाबी लाल और एक चाकलेटी भाण्ड भी प्राप्त हुआ जो कि काल II की विशिष्ट उपलब्धियाँ हैं। चाकलेटी भाण्ड प्राग्हड़प्पा भाण्ड की याद दिलाता है। इसी काल की दो उत्कृष्ट ढली हुई ताम्र कुल्हाड़ियाँ, छेनी और चूड़ियाँ भी मिली हैं। काल II के अवशेषों की सगोत्रता हड़प्पा से नहीं स्थगित की जा सकती। काल III में सफेद रंग से चित्रित काले-काले भाण्ड प्रचलित थे। काल IV में मालवा भाण्ड चित्रित काले लाल भाण्ड आदि मिलते हैं। कायथा संस्कृति के (काल II के) अभूतपूर्व स्वरूप व विशिष्ट व्यक्तित्व के कारण ताम्राश्मीय संस्कृतियों का स्वतंत्र उद्भव बहुत संभव लगता है।

(iv) माहेश्वर और नवदाटोली

इन्दौर से 50 मील दक्षिण में नर्वदा तट पर स्थित माहेश्वर व नवदाटोली से ताम्राश्मीय संस्कृति के विस्तृत अवशेष मिले हैं। झोपड़े वर्गाकार या वृत्ताकार (3 से 8 फुट परिधि के) थे। काल I के कमरों का औसतन माप 10' X 8' था, तथा गाँव में झोपड़ों की औसत संख्या 50 से 75 तक थी। एक 4' X 4' गर्त के चारों ओर खम्बों के निशान बने हैं। गर्त के अन्दर समकोण पर रखे दो लट्ठे, अंडाकार पेट और लहरियादार कंठ व आधार

वाले दो पात्रों के अवशेष मिले। सफेद रंग से चित्रित लाल भाण्ड केवल काल I में ही प्रचलित थे, जबकि सफेद रंग से चित्रित भाण्ड काल I और II में 1 काल III में टोंटीदार नली वाले और जोर्वे भाण्ड प्रचलन में आये। लेकिन प्रमुख भाण्ड मालवा भाण्ड ही था जो कि पूरे ताम्राश्मीय कालों में प्रचलित रहा। टोंटीदार नलीवाले भाण्डों के समरूप आकार पश्चिमी एशिया से उपलब्ध हुए हैं। खुर्दी में इसी प्रकार का एक ताम्र का बना नमूना मिला है। प्रथम काल में मसूर, उड़द, चना, मटर और गेहूँ उगाये जाते थे। काल II से थोड़ी मात्रा में चावल का भी उपयोग होने लगा। मध्य भारत में ही नहीं, भारतवर्ष के अन्य भागों में भी जंगली चावल (Oryza sativa) पैदा होता है। सूअर, भेड़, बकरी और हिरन के अवशेषों से ज्ञात होता है कि लोग मांस भक्षण भी करते थे। समानान्तर किनारों वाले छोटे या लघु फलकों का प्रयोग बड़ी संख्या में किया जाता था। दांतेदार फलक भी मिले हैं। चन्द्राकार लघ्वश्म जो बाणाग्रों की तरह प्रयुक्त होते थे, बहुत कम मिले हैं। इनके अतिरिक्त ताँबे के चपटे कुल्हाड़े, मत्स्य काँटे, रीढ़दार फलक आदि का भी प्रयोग किया जाता था। बादली पत्थर, तामड़ पत्थर और कांचलो मिट्टी के मनके मिले हैं। ताम्र व मिट्टी की चूड़ियाँ और छल्ले भी प्रचलित थे।

(v) प्रकाश

प्रकाश दक्षिणी ट्रेप प्रदेश पर स्थित था जहाँ भंगुर गुलाबी स्फोटगर्ती चट्टानें तथा गैर-स्फोटगर्ती ट्रैप की पट्टियाँ पायी जाती हैं। गोमाई व ताप्ती के संगम पर स्थित प्रकाश लघ्वश्म उद्योग के लिए प्रसिद्ध है। यहाँ बादली पत्थर, करकेतन तथा चर्ट पिण्ड बड़ी संख्या में पाये जाते हैं। भौगोलिक दृष्टि से मध्य तथा दक्षिणी भारत के बीच स्थित होने के कारण, दोनों क्षेत्रों के सांस्कृतिक तत्त्वों का समावेश यहाँ मिलता है। ताप्ती घाटी की खोज से अनेक ताम्राश्मीय संस्कृतियाँ प्रकाश में आयी हैं।

प्रकाश के उत्खनन से चतुष्कालिक अनुक्रम मिला है। प्रकाल I-ए से फलक लघ्वश्म, पत्थरों के हथौड़े, एक ताम्र दीपक, यशब के मनके, तामडा पत्थर, सेलखड़ी, पकी मिट्टी की छकड़ा गाड़ी के खिलौने आदि मिले हैं। प्रचलित मृदभाण्ड निम्नलिखित थे :- (i) सफेद डिजाइनों से चित्रित हल्के धूसर भाण्ड; (ii) मालवा भाण्ड; (iii) उत्कीर्ण एवं जमाए हुए अलंकरण युक्त भाण्ड; (iv) अपरिष्कृत घिसाई किये हुए और सादे भाण्ड, जिनका सम्बन्ध काले-लाल भाण्डों से स्थापित किया जाता है। काल I-बी में जोर्वे और च.ला. भाण्डों का प्रादुर्भाव हुआ। इस काल में समानान्तर पक्षों वाले फलक अधिक प्रचलित थे जबकि समलम्ब लघ्वश्म उपलब्ध नहीं हुए। किसी भी इमारत के अवशेष नहीं मिले। काल I से केवल एक ताम्र दीपक की प्राप्ति, धातु की न्यूनता का द्योतक है। लोहा, काले-लाल भाण्ड, एन.बी.पी. भाण्ड तथा ताम्र के 21 उपकरण काल II की विशेषताएँ हैं।

(vi) बाहल

गिरना नदी पर स्थित बाहल के काल I से ब्रह्मगिरि प्रकार का मोटा धूसर भाण्ड

मिला। गेरुए रंग से चित्रित कुछ गहरे धूसर ठीकरे भी मिले। प्रकाल I-बी में चाकनिर्मित उत्कृष्ट लाल के साथ च" ला" भाण्डों का प्रादुर्भाव हुआ। इस काल के ऊपरी सतहों से जोर्वे भाण्ड भी मिले हैं। इनके साथ समानान्तर पक्षों वाले फलक, समलंब और चंद्राकार फलक, सेलखड़ी के मनके, सोप और मिट्टी तथा एक ताम्र दीपक भी मिले। लोहा और चमकीले काले लाल भाण्ड काल II की विशेषताएँ हैं।

(vii) टेकवाड़ा

देशपाण्डे के मतानुसार गिरना नदी के पार से प्राप्त चार शवाधान काल I-बी के हैं। कटोरों से ढके कुछ बड़े कलशों में कुछ हड्डियाँ और कुछ रेखांकन वाले काले-लाल भाण्ड के कटोरे मिले। उनकी सगोत्रता रंगपुर रेखांकन नं. 21 और 32 से है। एक मर्तबान में तामड़ा पत्थर और सेलखड़ी के कुछ मनके भी मिले हैं।

एक गर्त शवाधान में उत्तर-दक्षिण में रखा एक प्रौढ़ पुरुष का 5'-2' का अस्थि-पंजर मिला। इसके पैरों के पास एक उत्कृष्ट धूसर भाण्ड व दूसरा चित्रित काला-लाल भाण्ड रखा था। साथ में लाल स्लिप वाला गोल कलश रखा मिला जिस पर काली-वक्र रेखाओं से एक शंख, प्रतिरूप मुड़े हुए फंदों के सिरे पर छह तिरछी रेखाएँ चित्रित हैं। इनसे इनकी बाहर की ताम्र संस्कृति के काल की समकालीनता सिद्ध होती है।

(viii) दैमाबाद

देशपाण्डे ने गोदावरी की एक सहायक नदी प्रवरा की घाटी पर स्थित दैमाबाद (जिला अहमदाबाद) का उत्खनन किया। गोदावरी की घाटी बहुत संकीर्ण है। इसके काल 1 में ब्रह्मगिरि काल I प्रकार का मोटा अनगढ़ भाण्ड प्रचलित था। कटोरों के किनारे और ढक्कन प्रायः गेरुए रंग से चित्रित थे। उत्कीर्ण एवं जमाए अलंकरण की तकनीकों का प्रयोग किया जाता था। यह समझा जाता है कि दो खातों में चित्रित जंगली दृश्य वाला सतह से मिला एक पाण्डु कलश इसी काल का है। करकेतन के समानान्तर पक्ष वाले फलक, मृण्मूर्ति और अल्प मूल्य रत्नों के मनके भी मिले हैं। काल II में सामान्य रचना और टोंटीदार नली वाले लाल पर काले भाण्ड प्रचलित थे जिन पर ज्यामितिक डिजाइन चित्रित है। लघु-अश्मों के अतिरिक्त ताम्र की एक सुई, टूटा हुआ चाकू व कुल्हाड़ी के भाग मिले हैं। एक कुत्ते व कूबड़दार साँड की मृण्मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं। काल III में टोंटीदार जोर्वे पात्रों का बाहुल्य है। धूसर भाण्ड पूर्ववत् प्रचलित रहे। लघ्वश्म बड़ी संख्या में मिलते हैं। इनके अलावा पत्थरों की गदाएँ, मिट्टी के तर्कु चक्कर, दो मानवी तथा एक कुत्ते की मृण्मूर्तियाँ भी मिली हैं।

काल I में बस्तियों के बीच ही शवाधान मिले जिनका सिर उत्तर दिशा की ओर था। काल II में भी विस्तारित शवाधान उत्तर-दक्षिण दिशा में रखे थे। काल III से कूटी हुई मिट्टी के फर्श पर रखा हुआ एक अस्थि-पंजर मिला जिसका घुटनों से नीचे का भाग भंजित है। फर्श पर चौदह लंबों के निशान शवाधान के ऊपर शामियाने की संभावना का आभास देते हैं। बच्चे अस्थि-कलशों में दफनाये जाते थे।

(ix) निवासा

प्रवरा नदी पर स्थित निवासा और जोर्वे एक ही संस्कृति के स्थल हैं। भौगोलिक दृष्टि से दैमाबाद और निवासा समान हैं। वर्गाकार व गोलाकार मकानों की दीवारें मिट्टी व लकड़ी की बनी थीं। घरों में संचयन कलश चक्की व चूल्हें बने मिले हैं। धीमी चाल पर निर्मित एक हलके धूसर मृद्‌भाण्ड के कटोरे और विविध प्रकार के वर्तुलाकार कलश प्रचलित थे। बारीक कुटी हुई मिट्टी से बने जोर्वे भाण्ड प्राप्त हुए जिनकी निष्प्रभ लाल सतह को काले रंग से चित्रित किया गया था। पात्रों में थालियाँ प्राप्त नहीं हुई। यद्यपि अधिकांश अलंकरण ज्यामितिक हैं तथापि एक कुत्ते और हिरन का रेखाचित्र भी बना मिला है। प्राप्त सन के रेशों व रुई से ज्ञात होता है कि लोग कपड़ा बनाना जानते थे। अल्प मूल्य रत्न, पकी मिट्टी, कांचलो मिट्टी, सेलखड़ी, ताम्र और सोने के भी मनके मिले हैं। एक बच्चे के अस्थि-पंजर के गले में ताम्र के मनकों का हार पड़ा मिला। यद्यपि ताम्र प्रचुर मात्रा में नहीं मिलता, फिर भी ताम्र की चपटी कुल्हाड़ियाँ, एक पात्र और चूड़ियों के टुकड़े, मनके और छड़ी मिली हैं। करकेतन फलक सामान्यतः प्रयुक्त होते थे। कठोर व भारी काम डोलेराईट के घिसे हुए कुल्हाड़ों से किया जाता था। सम्भवतः बड़ी संख्या में प्राप्त करकेतन के फलक और बाणाग्र, चपटे ताम्र कुल्हाड़े और डंकदार गेंद (Sling ball) उस काल के हथियार रहे हों। प्राप्त अवशेषों से ज्ञात होता है कि बाजरा, भेड़, बकरी, भैंस का मांस, घोंघे तथा सीप उनके आहार में शामिल थे। शव मकानों के अन्दर व बाहर दफनाये जाते थे। बच्चों का शवाधान एक, दो व कभी-कभी तीन अस्थि-कलशों में किया जाता था। 14 साल से बड़ों के शवाधाना एक या दो या कभी पाँच कलशों तक में मिले हैं। अस्थिपंजर अवशेष अच्छी प्रकार सुरक्षित नहीं रखे गये हैं। चौड़े चेहरे व चौड़ी, नाक, लम्बा सिर वाला एक अस्थि-पंजर मिला है। एरहार्ड के विचार से अस्थि-पंजर की उद्‌गतहनुता (Prognathy) समीप की जंगली जातियों सी है।

(x) जोर्वे

जोर्वे के उत्खनन से भी ऐसी ही सामग्री मिली है। कुल्हाड़ी और ताम्र चूड़ियों का यहाँ विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है।

(xi) चंदोली

पूना जिले में चोड नदी पर स्यित चंदोली एक जोर्वे संस्कृति स्थल है। यहाँ पर चूने से पुते फर्श पर खम्भों के छेदों के निशान और चूल्हे पाये गये हैं। जोर्वे, मालवा और दूधिये स्लिप वाले तथा काले लाल-मृद्‌भाण्ड भी प्रचलित थे। मालवा भाण्डों के आकार के पात्र (जैसे नवदाटोली में प्रचलित थे) तथा च.ला. भाण्ड भी मिले हैं।

समानांतर पक्ष वाले चाकू फलक, समलंब चन्द्राकार, वर्गाकार, लघु अश्मों का उपयोग भी किया जाता था। इनके अतिरिक्त विशाल चक्कियाँ, निहाई और पत्थरों की गदाएँ और डोलेराईट का एक कुल्हाड़ा भी मिला है। मृद्‌भाण्ड की एक पशु की आकृति की एक बोतल

(साँड के प्रकार का जानवर) हिस्सार तथा स्याल्क का स्मरण दिलाती है। ताम्र की दो छेनियाँ, एक कुल्हाड़ी, पाँव का अलंकरण और एक शृंगिकाकार मूठ वाली रीढ़दार कटार भी मिली है।

(xii) मास्की

मास्की दक्षिण भारत के नवाश्मीय क्षेत्र के अन्तर्गत आता है। लेकिन उत्तर तथा दक्षिणी संस्कृतियों का मिलन बिन्दु होने के कारण इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह रायचूर जिले में तुंगभद्रा की सहायक नदी मास्की पर स्थित है। यह रायचूर दोआब के बाह्य प्रदेश में तीनों ओर से नाइस शैलों से घिरा है। इस क्षेत्र में प्रधानतः स्वर्णीय शिरायुक्त स्फटिक चट्टानें (auriferous quartz reef) हैं। अब तक के उत्खनन से केवल दो स्वर्ण उपकरण प्राप्त हुए हैं। थापड़ ने चार संस्कृतियों का अनुक्रम इस स्थल में पाया है। इसके काल I में लघु अश्म व फलकों का व्यापन हुआ। लंबे फलक सैंधव नमूनों के समान लगते हैं। अब तक यहाँ से पत्थर की कुल्हाड़ियाँ उपलब्ध नहीं हुई हैं। एक ताम्र छड़ की प्राप्ति से धातु कर्म का ज्ञान होता है। अल्प मूल्य व सेलखड़ी के मनके प्रचलित थे। एक नतोदर किनारे वाला, तारे के आकार का मनका महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। हलके धूसर तथा गुलाबी पाण्डु भाण्ड प्रचलित थे। निचले स्तर से गुलाबी पाण्डु भाण्ड प्रचुरता से मिले। निचले स्तर से प्राप्त चित्रित भाण्डों के 24 ठीकरे मध्य भारत के भाण्डों से नहीं मिलते। सूती (Fresh water mussel) चूहे, भैंस, भेड़, बकरी के अवशेषों से ज्ञात होता है कि वे मांस खाते थे। मकानों के कोई अवशेष नहीं मिले। लघु-अश्म, काले-लाल भाण्ड तथा लोहा काल II की विशेषताएँ हैं। मास्की की ऊपरी सतह से प्राप्त एक बेलनाकार मोहर पर हाथी हाँकते हुए मनुष्य का चित्रण है। इस मोहर, लम्बे चर्ट फलक तथा चित्रित मृद्भाण्ड परम्परा के आधार पर, थापड़ ने इस संस्कृति का हड़प्पा संस्कृति से सम्बन्ध होने की कल्पना की है।

(घ) समस्याएँ और विवेचना

उपर्युक्त ताम्राश्मीय संस्कृतियों के सर्वेक्षण से विदित होता है कि रंगपुर में हड़प्पा संस्कृति का अवक्रमण हुआ है, यद्यपि स्पष्ट संचारण का रूप अभी स्पष्ट नहीं है। काल II में व्यापक अपकर्ष और ह्रास देखते हैं, पर प्रकाल II-सी पुनरुत्थान का है। चित्रकला का आधिक्य, काले लाल भाण्ड की लोकप्रियता और बड़ी इमारतों का निर्माण इस काल की विशेषता है। सूर्य, सवार (?) और तंबू के चिह्न भी रेखांकित हैं। पचास प्रतिशत रेखांकन हड़प्पा प्रतीकों से बिल्कुल नहीं मिलते और शेष दूसरों में भी समानता के लक्षण नहीं दिखाई देते। ऐसा प्रतीत होता है कि लिपि प्रयोग ही नहीं की गयी या संभवतः यहाँ के लोग लिपि से परिचित नहीं थे। काल III में यद्यपि काले लाल भाण्ड प्रचलित थे, तथापि चमकीले लाल भाण्ड की प्रमुखता थी। काल II में मृद्भाण्ड व शैलियों की बहुलता, काले-लाल भाण्ड और चमकीले भाण्डों के प्रति अभिरुचि, क्या नये प्रेरणा-मानों या नये आक्रमकों के आगमन का द्योतक है? देसलहपुर के काल II-बी से भी इसी प्रकार के प्रमाण मिलते हैं।

बनास संस्कृति के स्थलों में यह प्रक्रिया पूर्ण विकसित स्तर पर है। उनके बड़े सामूहिक चूल्हे, 30'X15' यहाँ तक कि 100'X80' नाप के बड़े भवन, पक्की ईंटों की 37' की दीवार की संरचना, बहुत प्रकार के मृद्भाण्ड, काले लाल भाण्डों का प्रचलन, सैंधव प्रकार की गोटों का प्रयोग और पक्की ईंटों पर हड़प्पा संस्कृति की छाप स्पष्ट दिखायी देती है। क्या हड़प्पा के दस्तकार ही अपने नये स्वामियों (आक्रमकों) की सेवा में यहाँ काम कर रहे थे?

इस संदर्भ में पहले ही बताया जा चुका है कि संकालियाँ ने मृद्भाण्ड प्रकार और तर्कुचक्करों में विदेशी सादृश्य देखा है। इसी प्रकार की विकास प्रक्रिया को सौराष्ट्र के विभिन्न स्थल जैसे प्रभास पाटन, लखाभावल और सोमनाथ आदि में भी हम देखते हैं।

इस पुनरुत्थान का क्या कारण था? क्या यह केवल हड़प्पा संस्कृति का अनुक्रमिक विकास था या यह नये प्रेरणा-मानों या नये लोगों के आगमन की देन थी? इस प्रश्न का उत्तर उनकी ताम्र तकनीकों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा समझा जा सकता है। क्या नये लोग कच्ची धातु (अयस्क) और भिन्न धातुशोधन तकनीक का प्रयोग कर रहे थे?

नवदाटोली में धातु-शोधन तकनीक किस संस्कृति के देन थी? बनास प्राग्हड़प्पा या हड़प्पा की? अहाड़ और गिलून्द में पाषाण-उद्योग बहुत ही गौण हैं जबकि ताम्र प्रगलन के प्रमाण स्पष्ट हैं। क्या प्रस्तर फलक उद्योग का पूर्णतः न मिलना विदेशी परम्पराओं व लोगों के आगमन का सूचक है? लेकिन हड़प्पा संस्कृति की तुलना में बनास ताम्र धातु शोधन प्रक्रिया का क्या स्थान है? क्या यह सौराष्ट्र की तरह सीधे सांस्कृतिक संचरण क्षेत्र से महत्त्वपूर्ण रूप में भिन्न है?

किस प्रकार विभिन्न ताम्र तकनीकों का विश्लेषण सौराष्ट्र की उत्तर हड़प्पा संस्कृति, मध्य भारत और दक्षिणी भारत के तीन सांस्कृतिक समूहों का वर्ग भेद करने में सहायक हो सकता है? और किस प्रकार पारिस्थितिकी इन तीनों क्षेत्रों की तकनीकों को प्रभावित करती है?

क्या नवदाटोली के काल II से प्राप्त चावल नये आगंतुकों के आगमन को दर्शाता है या केवल विशेष किस्म के (Oryza sativa) स्थानीय जंगली चावलों की खेती का सूचक है?

उत्तर में, नागदा के काल II से काला और दूधिया भाण्ड नहीं मिलता, जबकि काले लाल भाण्ड प्रकट होते हैं। जोर्वे और निवासा में काले-लाल भाण्ड नहीं मिलते जबकि मास्की में यह लौह-युगीन है। क्या अस्थि-कलश शवाधान और हस्तनिर्मित धूसर भाण्ड, दक्षिणी निवासा काल की ताम्राश्मीय संस्कृति की देन है? शर्मा के मतानुसार टोंटीदार कटोरा दक्षिणी पूर्वी भारतीय नवाश्म संस्कृति का द्योतक है न कि मालवा संस्कृति का एक अंग। यह सब प्रमाण क्या दर्शाते हैं?

क्या मालवा और जोर्वे लोग काली कपासी मिट्टी का खेती के लिए उपयोग कर सके? क्या उनकी ताम्र तकनीक से खेती करना संभव था या वे केवल नदीतटीय संकरे जलोढ

मैदानों का ही खेती के लिए उपयोग करते रहे? उनकी पारिस्थितिकी और तकनीकी ज्ञान उनके नागरीकरण में सहायक क्यों नहीं हो सका?

कम से कम पहली सहस्राब्दी ई.पू. तक काले लाल भाण्ड क्या एक निश्चित परम्परा को दर्शाते हैं? क्या यह परम्परा दोआब में भी पहुँची? काले-लाल भाण्ड के संचरण में पारिस्थितिकी का क्या अवरोध रहा? और उसके क्या परिणाम हुए?

ताम्राश्मीय संस्कृति के सर्वेक्षण से उपर्युक्त मुख्य प्रश्न उठते हैं, जिनका विवेचन हम आगे करेंगे।

(ङ) उत्तर भारत (दोआब)

पारिस्थितिकी की दृष्टि से दोआब (गंगा की घाटी), थार रेगिस्तान, अर्द्ध शुष्क पंजाब और सिन्ध से पृथक है (देखें अध्याय 2)। थोड़े से पश्चिमी दोआब के हड़प्पा स्थलों के अतिरिक्त, ताम्र संचय दोआब के सबसे प्रारम्भिक पुरातात्त्विक अवशेष हैं। इनके संबंध में विभिन्न मत प्रचलित हैं। हाईने गेल्डर्न इन्हें आर्य आक्रमणकारियों की देन मानते हैं तो पिगट सैंधव शरणार्थियों की। इनके विपरीत लाल, इनका संबंध यहाँ की आदि जातियों से जोड़ते हैं।

दुर्भाग्यवश अब तक प्राप्त ताम्र संचय किसी स्तरविन्यासित निक्षेप से उपलब्ध नहीं हुए हैं। दोआब के तीनों ताम्र संचय स्थलों-राजपुर पर्सू, बिसौली और बहादराबाद के बाद के उत्खनन से गेरुए भाण्ड मिले हैं। इस प्रकार दोनों की समकालीनता केवल अप्रत्यक्ष प्रमाण पर ही आधारित है। अभी हाल में सैपाई से एक मत्स्य भाला (harpoon) उत्खनन से मिला है।

(i) बहादराबाद

छोटे तने वाली सपीठ थाली, सपीठ कटोरे और चिलमची हड़प्पा संस्कृति से सादृश्य दर्शाती हैं। इसी प्रकार के मृद्भाण्ड भाटपुरा, मानपुरा और अन्य स्थलों से मिले हैं। बड़गाँव से भी ऐसी सामग्री मिली है।

(ii) बड़गाँव

बड़गाँव (जिला सहारनपुर) की ऊपरी सतह पर कब्रगाह एच की सामग्री मिलती है। यहाँ से सपीठ थालियाँ व सिन्धु प्रकार के कुल्हड़ मिले हैं। बहादराबाद की तरह रस्सी छाप और गेरुए भाण्ड भी मिले हैं। वलय-स्टैण्ड (ring stand) पर उत्कीर्ण अलंकरण हैं। इनके अतिरिक्त अंडाकार मृत्पिंड, एक चर्ट फलक, एक हड्डी का बाणाग्र, केन्द्रीय नाभि वाला पहिया, प्रस्तर बाँट और काँचलो मिट्टी की चूड़ियाँ उत्खनन से उपलब्ध हुई हैं। ऊपरी स्तरों से विविध प्रकार के चित्र मिले हैं। इनमें समस्तर पट्टों के अन्दर आड़ी जाली के युगल त्रिकोण, लहरियादार रेखाएँ आदि के डिजाइन भी शामिल हैं। पोंडी और बहादराबाद से

प्राप्त एक विशिष्ट प्रकार का ताम्र उपकरण (ताम्रकड़े की तरह) यहाँ की विशिष्ट उत्तर हड़प्पाकालीन संस्कृति के संदर्भ में मिला है।

(iii) आंबखेड़ी

जिला सहारनपुर में स्थित आंबखेड़ी से लाल स्लिप सहित गेरुए भाण्ड बिना किसी चित्रण के मिले हैं। अतरंजीखेड़ा या पंजाब की तरह के उत्कीर्ण मृद्भाण्ड यहाँ से प्राप्त नहीं हुए। एक सपीठ विशिष्ट प्रकार की उत्कृष्ट अंडाकार सुराही में कब्रगाह की संस्कृति का प्रभावँ दृष्टिगोचर होता है। छोटे तने वाली सपीठ थालियाँ, केन्द्रीय गुल्म वाले कटोरीनुमा ढक्कन, चिलमची, छोटे प्याले, बाढ़दार किनारे के बरतन (बाड़ जैसे) आदि अन्य आकार के मृद्भाण्ड भी प्रचलित थे। कूबड़दार साँड और मृतिंड सैंधव प्रतीत होते हैं। हमारे मत से हड़प्पा के त्रिकोणपिंड (केक) से ये पिंड भिन्न हैं। कोई भी ताम्र उपकरण यहाँ नहीं मिला। विभिन्न आकार के हस्त-निर्मित मृद्भाण्ड भी प्रचलित थे। एक ईंटों के भट्टे के अवशेष भी मिले हैं। एक लहरदार अलंकरण युक्त लाल भाण्ड (जो राजस्थान में चित्रित धूसर भाण्ड के साथ मिलता है) भी मिला है। यह निरन्तरता का द्योतक है। देशपाण्डे आंबखेड़ी को हड़प्पा का अपकर्षक रूप मानते हैं।

(iv) अतरंजीखेड़ा

जिला एटा में अतरंजीखेड़ा के उत्खनन से गौड़ ने विभिन्न काल की संस्कृतियों के एक लम्बे अनुक्रम को खोज निकाला है। काल I से सरंध्र, भंगुर और मोटी बनावट के चाकनिर्मित गेरुए रंग के भाण्ड मिले हैं। बाढ़दार किनारे वाले बर्तन, छोटी-सी टोंटी वाले कटोरे, सपीठ थालियाँ आदि मृद्भाण्ड प्रचलित थे। उत्कीर्ण डिजाइन आदि भी मिलते हैं। इस काल के निक्षेप में प्राप्त बालू, बाढ़ आने के प्रमाणों की पुष्टि करती है। वास्तव में साधारण आवासीय निक्षेप की अनुपस्थिति दर्शाती है कि ये सब स्तर बहकर आये हुए निक्षेप हैं।

गौड़ के मतानुसार अभी तक आंबखेड़ी और अतरंजीखेड़ा से प्राप्त सामग्री के बीच सादृश्य स्थापित करना संभव नहीं हो पाया है, जबकि आंबखेड़ी से प्राप्त बहुत से मृद्भाण्ड प्रकारों का हड़प्पा संस्कृति से तादात्म्य प्रतीत होता है। अतरंजीखेड़ा से प्राप्त सामग्री इन लक्षणों से भिन्न है। इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि इन दो संस्कृतियों के बीच कुछ सम्बन्ध था लेकिन निश्चित रूप से कोई सीधा तादात्म्य नहीं था। काल II के लगभग 300 वर्गमीटर क्षेत्र के 25-50 से.मी. संकरे निक्षेप से काले-लाल भाण्ड प्राप्त हुए है। इसके अतिरिक्त काली, लाल स्लिप वाले और सादा लाल भाण्ड अधिक प्रचलित थे, जबकि गेरुए रंगीय और चित्रित धूसर भाण्ड बिल्कुल नहीं मिलते। काली स्लिप वाले भाण्ड का आकार काले-लाल भाण्ड के समान है। काली स्लिप वाले और काले-लाल भाण्ड भली भाँति घुटी हुई मिट्टी के हैं और आमतौर से पतले व अच्छी प्रकार पकाये हुए हैं। दोनों ही उत्तम कोटि के हैं। संभवतः घिसने के कारण इनमें विशेष प्रकार की चमक है। चाक निर्मित भाण्डों के

अतिरिक्त कुछ हस्तनिर्मित भाण्ड भी मिले हैं। काले स्लिप वाले भाण्डों में यदा-कदा चित्रित डिजाइन अधिक चित्रित धूसर भाण्डों के सदृश है।

वर्गाकार और आयताकार चूल्हों से जली हुई हड्डियाँ मिली हैं। 14.5x9.5x3.5 से. मी. के कुछ ईंट के जले टुकड़े प्राप्त हुए हैं। यह ज्ञात नहीं कि यह किस लिए प्रयुक्त होते थे। करकेतन के क्रोड और अपशिष्ट शल्क (Waste Flakes) फिर मिलने लगते हैं। यद्यपि कोई भी निश्चित हथियार के आकार के नहीं हैं।

चि.धू. भाण्ड और काले-लाल भाण्ड के निक्षेप के बीच मिट्टी का भराव है। 'ऐसा प्रतीत होता है कि बाढ़ ने काले और लाल भाण्ड की बस्ती का अंत कर दिया। इस संस्कृति के थोड़े से निक्षेप को छोड़ यह इस स्तर के यथेष्ट भाग को बहा ले गयी।' मुख्यतः रचना की दृष्टि से, उत्खननकर्ता ने इस पर बल दिया है कि अतरंजीखेड़ा के काले और लाल भाण्ड का अहाड़ गिलूँद भाण्ड से सदृश्य है।

(v) आलमगीरपुर

मेरठ जिले में हिंडन नदी पर स्थित आलमगीरपुर में हमें हड़प्पा सामग्री मिलती है। इसके प्रथम चरण से हड़प्पा संस्कृति के परवर्तीकालीन अवशेष मिलते हैं जबकि द्वितीय चरण में चि.धू. भाण्ड के साथ काले-लाल भाण्ड, काली स्लिप वाले और सादा लाल भाण्ड प्राप्त हुए है। कभी-कभी अभ्रक को मिट्टी में मिलाकर भाण्ड बनाये जाते थे। चाकनिर्मित पक्की मिट्टी की वस्तुएँ शूक, सूइयाँ, हड्डी के बाणाग्र, पाँसे, काँच के मनके आदि मिले हैं। तृतीय काल में एन.बी.पी. का अभ्युदय हो जाता है। इसी स्थल पर सर्वप्रथम लोहा चि. धू. भाण्ड तल से मिला है और यहाँ से लोहे के कटीले बाणाग्र, भालाग्र, मेखें और सुइयाँ मिली हैं। ताम्र निरन्तर प्रचलित रहा।

(vi) सैपाई

सैपाई जिला इटावा (उत्तर प्रदेश) में स्थित है। इसकी सतह से 45 से.मी. की खुदाई से ताम्र-संचय प्रकार का एक मत्स्य भाला, कुछ गेरुये मृद्भाण्ड तथा इनके ठोकरे मिले हैं और एक ठीकरे के स्लिप पर काले रंग से आड़े-तिरछे बने डिजाइन मिले। उल्लेखनीय मृद्भाण्ड हैं - फैली बाढ़ के डिजाइन वाला मर्तबान, कटोरे, चिलमची (कुछ हत्थेदार व टोंटीदार भी थे) मिले। एक बर्तन के टूटे तने के विषय में लाल का मत है कि यह सपीठ थाली का भाग था तथा अन्य टुकड़ा गोल आधार का रहा होगा। मृद्भाण्डों की मुख्य विशिष्टता उनके उत्कीर्ण अलंकरण में है। बहुत से मृद्भाण्डों के ऊपरी भाग के बाहर की तरफ जोटे दांतेदार पट्ट, बिन्दुओं की पंक्तियाँ या रेखिका या त्रिभुजाकार खंडों का समूह (रेखिका की पंक्तियों को बाँधते हुए) उत्कीर्ण हैं। अन्य शिल्प उपकरण हैं, गेंदे कूटक (Pounder), सान, चक्की, बालुकाश्म की रंग-पट्टिका, एक चर्ट फलक और एक करकेतन का फलक है। भट्टे में पकाये गये बहुत से मिट्टी के टुकड़े व बैल (Bos indieus) की

कुछ हड्डियाँ भी मिली हैं। काल के अनुसार सैपाई से प्राप्त मृद्भाण्डों की सैंधव प्रकारों से थोड़ी समानता है।

(vii) चिरांद

सिन्हा तथा वर्मा ने बिहार के सारन जिले में स्थित गंगा के किनारे बसे गाँव चिरांद में उत्खनन कर ताम्राश्मीय से उत्तरऐतिहासिक काल का सांस्कृतिक क्रम खोज निकाला है। यहाँ के नवाश्मीय काल से चावल, गेहूँ, मूँग, मसूर तथा बकरी, सुअर, हिरन, हाथी, दरयाई घोड़ा, मछली की हड्डियाँ, घोंघों के अवशेष मिले हैं, जो कि उनके कृषि-कर्म तथा भोजन सामग्री की जानकारी देते हैं। विभिन्न रंगों के यशब, करकेतन, बादली पत्थर और सेलखड़ी, कांचली मिट्टी तथा मिट्टी के बेलनाकार, नालाकार, त्रिभुजी और गोलाकार मनके भी मिले हैं। हड्डी और मिट्टी के बने लटकन और चूड़ियाँ भी प्रचलित थीं। हड्डी का बना छोटा कुल्हाड़ीनुमा लटकन और कंघी भी उपलब्ध हुई हैं। मृण्मूर्तियों में गाय, चिड़ियाँ और साँप बने हैं तथा चौकोर तावीज भी मिले हैं। सुअर तथा हिरन के आकार के पात्र-शवाधान भी देखने को मिले। पत्थर के बड़े हथियारों की अपेक्षा लघु-अश्म जैसे चाकू की नोकें, और फलक प्रचुर मात्रा में मिले हैं। इनके अलावा हड्डियों के (मुख्यतः हिरन के सींग के) बने छेनी, गैंती, घोटा, हथौड़ा, छड़ कुल्हाड़ी, पार्श्व-खुरचनी, सिरा खुरचनी, नाकेदार सूई, सूआँ, दंत कुरेदनी, बरमा, बाणाग्र, सानी आदि हथियार प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। एक निहाई भी मिली। घास और मिट्टी के बने गोलाकार मकानों की दीवारों पर दोनों ओर से मिट्टी का पलस्तर किया जाता था। कुछ खम्भों के निशान भी (मकानों के लिए) देखने को मिले। लाल भाण्ड अधिक प्रचलित था। धूसर, काले और काले-लाल भाण्ड भी मिले हैं। लेकिन चिरांद के ताम्राश्मीय काल में काले-लाल भाण्ड बहुत प्रचलित थे। चमकीले लाल-भाण्ड रंगपुर के ताम्राश्मीय चमकीले लाल भाण्डों का स्मरण कराते हैं। पात्रों पर विविध प्रकार का चित्रण हुआ है। पात्रों के कंठों पर रस्सी तथा पट्टी का डिजाइन आम है। कालानुक्रम की दृष्टि से चिरांद की नवाश्मीय संस्कृति का दक्षिणी भारत तथा बुर्जाहोम की नवाश्मीय संस्कृति से क्या सम्बन्ध था, कहना कठिन है। यह मानना पड़ेगा कि वे कहीं बाहर से यहाँ आये। क्या वे छोटा नागपुर से आये, या दक्षिणी-पूर्वी एशिया अथवा पूर्वी-एशिया से? भारत की सीमा पर सर्वप्रथम (किली गुल मोहम्मद) नवाश्मीय समूह की तिथि 3400 ई.पू. है। लेकिन इनका चिरांग की नवाश्मीय संस्कृति से क्या सम्बन्ध रहा, इस पर कुछ कहा नहीं जा सकता।

यद्यपि इस स्थल से ताम्र उपकरण प्राप्त नहीं हुए पर संकालिया इसे ताम्राश्मीय संस्कृति समझते हैं और इसलिए इसे ताम्राश्मीय संस्कृति के अन्तर्गत देखा गया है।

(viii) राजार धीबी

राजार धीबी जिला बर्दवान की अजय घाटी में स्थित है। कच्ची मिट्टी के मकान, हस्त-निर्मित मोटे धूसर या हलके लाल मृद्भाण्ड और लघु-अश्म काल II की विशेषता हैं।

शवाधान में शव का पूर्वाभिमुखीकरण मिलता है। ये अपूर्ण शवाधान हैं। क्योंकि उनका ऊपरी भाग नहीं मिलता। काल II में एक पक्की गली के पार्श्व में दो मकान मिले हैं। मकानों में सुव्यवस्थित विन्यास है। काले-लाल, चित्रित लाल और चमकीले लाल भाण्ड मिलते हैं। चित्रण काले या सफेद रंगों से किया गया है। घुटी मिट्टी का प्रयोग इनमें किया गया है और रचना कुशलता से की गयी है। डिजाइन ठोस त्रिकोण वाले, जालीदार, रेखा-छायाएँ, समचतुर्भुज सिग्मा और साथ में लहरदार रेखाएँ वाले हैं। दासगुप्ता के मतानुसार फूलदार टोंटी, पाँव वाले कुल्हड़ और हत्थेदार बर्तनों की अलीसार ह्यक के साथ सादृश्य है। इस काल में विस्तारित द्वितीयक शवाधान मिलते हैं। शवाधानों से ताम्र चूड़ियाँ भी मिली हैं। इनके अतिरिक्त हड्डी के बाणाग्र और सूए भी मिले हैं। इस काल की रेडियोकार्बन तिथि 1012±120 ई.पू. निर्धारित की गयी है। यह समझा जाता है कि यह गणना हिन्दुस्तान की ही रेडियोकार्बन प्रयोगशाला में की गयी, जबकि ऐसी अन्य प्रयोगशाला (फिजीकल रिसर्च लेबोरेटरी, अहमदाबाद के अतिरिक्त) नहीं है। अभी हाल में हमें ज्ञात हुआ कि जादवपुर विश्वविद्यालय के किसी आचार्य ने यह गणना कोपेनहेगन की प्रयोगशाला में करवायी थी, परन्तु लोगों में भ्रम है कि शायद यह जादवपुर में ही की गयी थी। काल III में काल II के सदृश मृद्भाण्ड मिलते हैं। इस काल में घिसे हुए प्रस्तर-कुल्हाड़े व हड्डी के हथियार मिलते हैं। लौह उपकरण भी इस काल में लोकप्रिय हो गये थे।

अध्याय-3 : संदर्भिका

इस अध्याय विषयक मुख्य ग्रन्थ

D.P. Agarwal	:	The Copper Bronze Age in India, 1971 (Delhi).
D.P. Agarwal and A. Ghosh (Eds.)	:	Radiocarbon and Indian archaeology 1973, (Bombay).
B. and F.R. Allchin	:	Birth of Indian Civilisation, 1968 (Harmondsworth).
J.M. Casal	:	Fouilles de Mundigak, 1961 (Paris).
J.M. Casal	:	Fouilles de Amri, 1964 (Paris).
J.M. Casal	:	La Civilisation de Indus etses Enigmes, 1969 (Paris).
R.W. Ehrich	:	Chronology in Old World Archaeology 1965 (Chicago).
S. Piggot	:	Prehistoric India, 1961 (Harmondsworth).
H.D. Sankalia	:	Prehistory and Protohistory in India and Pakistan, 1962-63 (Bombay).
R.E.M. Wheeler	:	The Indus Civilisation, 2dn Ed., 1962 (Cambridge).

इस अध्याय विषयक लेख :

A. Ghosh	:	The Bull of the National Inst. of Sci of India, No. I, P. 37, 1952.
F.A. Khan	:	Pakistan Archaeology, 1964-65.
G.F. Dales	:	Proc. of Amer. Phil. Soc., Vol. 40, P. 130, 1966.
G.F. Dales	:	In Chronology in Old World, Ed., R.W. Ehrich, 1965 (Chicago).
H.D. Sankalia	:	Artibus Asiae, Vol. 26, P. 312, 1963.
J.M. Casal	:	Pakistan Archaeology, 1965.
B.B. Lal	:	Antiquity, Vol. 46, P. 282-287, 1972.

✪✪✪

अध्याय 4

कालानुक्रम तथा तिथि-निर्धारण

तकनीकी दृष्टि से ताम्र व प्रस्तर उपकरणों के उपयोग के काल को ताम्राश्मीय युग कहा जा सकता है। पाश्चात्य देशों में प्रचलित अर्थों में यह नवाश्मीय व कांस्य युग के बीच के संक्रमण काल के लिए प्रयोग किया जाता है। परन्तु भारत उपमहाद्वीप में समरस विकास हुआ ही नहीं। समय के हिसाब से दक्षिण का नवाश्मीय काल हड़प्पा संस्कृति का समकालीन है। धातुओं से भरपूर होते हुए भी, हड़प्पा संस्कृति में विस्तृत पैमाने पर चर्ट फलक प्रचलित थे। हड़प्पा के पतन के पश्चात् चारों ओर ह्रास के चिह्न लक्षित होते हैं। इस संस्कृति के पश्चात् जन्मी संस्कृतियों में मुख्यतः प्रस्तर उपकरणों का ही प्रयोग किया गया, यद्यपि सीमित रूप में धातु का उपयोग भी प्रचलित था। इस प्रकार भारत का उत्तर हड़प्पाकालीन 'ताम्राश्मीय युग' पद यहाँ के सामाजिक विकास के एक चरण का द्योतक नहीं है। इस पद का उपयोग यहाँ पर केवल विवरणात्मक रूप में किया गया है। इस युग के अन्तर्गत हम प्रस्तर और ताम्र प्रयोग करने वाली संस्कृतियों का अध्ययन करेंगे।

'प्राग्हड़प्पा' पद विवादग्रस्त है क्योंकि इसके अन्तर्गत कुल्ली संस्कृति जैसी हड़प्पा-समकालीन और अन्य इतर-हड़प्पा संस्कृतियों को भी सम्मिलित किया जाता है। इसके अतिरिक्त, कालीबंगन और मुंडीगाक की तथाकथित प्राग्हड़प्पा संस्कृतियाँ परस्पर एकदम भिन्न सांस्कृतिक इकाइयाँ हैं और इनके बीच महत्वपूर्ण कालान्तर भी है। काल और क्षेत्र की दृष्टि से कोटदीजी (या सोथी या कालीबंगन) संस्कृति काफी विस्तृत रूप से फैली हुई थी, और इसमें क्षेत्रीय रूपान्तरण भी हुए थे। हमें इस संभावना पर भी विचार करना चाहिए कि हड़प्पा संस्कृति के मुख्य शहरों व चौकियों के नागरिक व शहरी रूप के युग में भी सोथी संस्कृति हड़प्पा संस्कृति का ही एक ग्रामीण पक्ष रही हो। प्राप्त तथ्यों से प्रतीत नहीं होता कि कालीबंगन में प्राग्हड़प्पा संस्कृति का सहज परिवर्तन बाह्य आक्रमण या इस स्थल के पुनः बसने के कारण हुआ। बल्कि ऐसा लगता है जैसे आजकल की तरह किसी म्युनिसिपल कारपोरेशन ने एक ग्राम को नागरीकरण के लिए अपनी सीमा में ले लिया हो। इस संदर्भ में घोष का मत उल्लेखनीय है, 'दो (सोथी और हड़प्पा) प्रकार के मृद्भाण्डों के साथ-साथ प्राप्त होने से लगता है कि वे (सैंधव लोग) स्थानीय आबादी के साथ उन्हीं स्थलों में ही नहीं, संभवतः उन्हीं मकानों में रहते थे।' सोथी के तथाकथित प्राग्हड़प्पा मृद्भाण्डों के विषय में घोष लिखते हैं, वे 'वास्तव में सरस्वती व दृषद्वती के सभी स्थलों में (सतहों से) हड़प्पा मृद्भाण्डों के साथ मिश्रित मिलते हैं।' उपर्युक्त तथ्य स्पष्ट करते हैं कि तथाकथित प्राग्हड़प्पा संस्कृतियाँ, वस्तुतः हड़प्पा की नागरिक, मानकीत, एकरूपी, व्यापारिक संस्कृति की ही समकालीन ग्राम्य पक्ष थीं। इस मत के विपरीत थापड़ दो अन्य विकल्प प्रस्तुत

करते हैं। (i) भूकम्प के कारण जो प्राग्हड़प्पा आबादी निकटवर्ती क्षेत्रों में चली गयी थी, कालान्तर में कालीबंगन के समृद्ध शहर हो जाने के कारण वहीं वापस लौट आयी और कालीबंगन की खुदाई के निम्नतम तल से उपलब्ध मृद्भाण्ड इन्हीं लोगों की देन है। (ii) हड़प्पा संस्कृति के अन्दर ही ऐसे भी लोग थे जो प्राग्हड़प्पा प्रकार के मृद्भाण्डों का प्रयोग करते थे। इस व्याख्या के आधार पर हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ों में प्राग्हड़प्पा मृद्भाण्डों का पाया जाना इस प्रकार समझा जा सकता है। थापड़ की इस वैकल्पिक व्याख्या से भी प्राग्हड़प्पा व हड़प्पा संस्कृतियों की समकालीनता की ही पुष्टि होती है। इस प्रकार इन तथ्यों की किसी अन्य ढंग से व्याख्या हो ही नहीं सकती।

कदाचित् सिन्ध का नागरीकरण तीव्रगति से हुआ हो, लेकिन कोटदीजी का अति स्थूल परकोटे में बंधा गाँव नागरीकरण की दहलीज पर खड़ा था। संभवतः कृषिजन्य अतिरिक्त उत्पादन, व्यापार की आवश्यकता व बाढ़ों के निरन्तर प्रकोप ने इस लोगों को एक नये शहर के योजनाबद्ध निर्माण के लिए मजबूर कर दिया। उसके पश्चात् शहरी तौर तरीके व नये मानक निर्धारित किये गये। हड़प्पा संस्कृति की भारतीय व आकस्मिक उत्पत्ति की यही व्याख्या हो सकती है। यह व्याख्या कालानुक्रम की समस्याओं को भी आसान बना देती है। अतः हम इन तथाकथित प्राग्हड़प्पा संस्कृतियों को, उत्तर पश्चिमी इतर हड़प्पा संस्कृतियों के अन्तर्गत रखेंगे और इनके कालानुक्रम की विवेचना भी अलग से करेंगे। (परन्तु आरेखों व तालिकाओं में बहु-प्रचलित प्राग्हड़प्पा शब्द का ही प्रयोग किया गया है)।

(I) काल निर्धारण की समस्याएँ

सर्वप्रथम पिगट ने पश्चिमी पाकिस्तान की बिखरी हुई पुरातात्त्विक सामग्री का विशद संश्लेषण किया था। बलूचिस्तान की झोब संस्कृति के विभाजन को समझने के लिए उसने मैकाउन का ईरानी समीकरण प्रयुक्त किया। इस समीकरण के अनुसार ईरान की भाँति ही, झोब संस्कृति के उत्तरी क्षेत्र में लाल मृद्भाण्ड संस्कृति व दक्षिण क्षेत्र में पाण्डु मृद्भाण्ड संस्कृति फैली हुई थी। की कार्डी की हाल की खोजों में क्वेटा, दक्षिण-पश्चिम व सिन्ध में भी टोगाउ प्रकार के लाल मृद्भाण्ड मध्य काल तक मिलते हैं; दूसरी ओर पाण्डु मृद्भाण्ड क्वेटा, दक्षिण-पश्चिम में ही नहीं, बल्कि सिन्धु की ओर तक मिलते हैं। बहुत से स्थलों में, लाल और पाण्डु दोनों ही प्रकार के मृद्भाण्डों में एक सा अलंकरण किया गया है। हाल में डी कार्डी और फेयरसर्विस ने दोनों संस्कृतियों के सहज सम्बन्धों के और भी सूत्रों को खोज निकाला है। मुंडीगाक और आभ्री के उत्खनन से भी उपर्युक्त तथ्यों की ही पुष्टि हुई।

काल निर्धारणार्थ फेयरसर्विस ने सांख्यिक पद्धति का उपयोग किया है। इसके अनुसार केवल एक काल के स्थलों से प्राप्त मृद्भाण्डों का मात्रात्मक विश्लेषण किया गया। इस प्रकार उसके द्वारा निर्धारित प्रत्येक 'काल' मृद्भाण्डों के प्रकारों की सांख्यिकीय प्राप्ति पर निर्भर करता था। इस पद्धति को अपनाने के कारण फेयरसर्विस को गम्भीर कठिनाइयों का सामना

करना पड़ा। उदाहरणार्थ किली गुल मोहम्मद काल II को विशिष्ट रूप से हस्तनिर्मित मृद्भाण्ड का युग माना गया। इस काल में 12 मृद्भाण्ड प्रकारों में से 10 चाक-निर्मित निकले। चाइल्ड ने शायद इसीलिए अमरीकी पुरातत्व के अति वैज्ञानिकीकरण को अवांछनीय बताया है। डेल्स आदि ने भी फेयर सर्विस की इस पद्धति की काफी आलोचना की। परन्तु फेयरसर्विस ने इस आलोचनाओं के कारगर उत्तर दिये हैं। इस क्षेत्र में सांस्कृतिक परिवर्तनों की व्याख्या करने के लिए उसने एक सांस्कृतिक मानवशास्त्री दृष्टिकोण का उपयोग किया है। उसने हड़प्पा संस्कृति के प्रादुर्भाव से पतन तक के विकास को पाँच सांस्कृतिक-आर्थिक चरणों में बाँटा है। उसकी पद्धति काल-निर्धारण की दृष्टि से इतनी उपयुक्त नहीं, जितनी पुरातात्त्विक सामग्री को समझने के लिए है।

इन संस्कृतियों का काल निर्धारण मुख्यतः दो प्रकार के प्रमाणों पर आधारित है। (i) मेसोपोटामिया और ईरान से सम्पर्क और (ii) रेडियोकार्बन तिथियाँ। इस विषय में व्हीलर की यह चेतावनी ध्यान में रखनी आवश्यक है कि इस क्षेत्र के अनेक जन-समूहों अथवा संस्कृतियों में इतनी अधिक अननुमेय अपरिवर्तनशीलता है कि यह निश्चित करना बड़ा कठिन है कि कहाँ तक सांस्कृतिक समानताएँ कालानुक्रमिक समीकरणों की द्योतक हैं। इन कठिनाइयों के कारण डेल्स ने निम्नलिखित तथ्यों पर आधारित स्तरविन्यास को एक सरल एवं तार्किक पद्धति का प्रयोग किया है। (i) मृद्भाण्ड प्रारूपों का प्रथम आविर्भाव; (ii) केवल मृद्भाण्डों की अपेक्षा सभी प्रकार की उत्खनित सामग्री का आपेक्षिक काल-वितरण; और (iii) संपूर्ण पुरातात्त्विक सामग्री के आधार पर काल विभाजन। इस पद्धति की उपयोगिता पर कोई संशय नहीं, परन्तु अधिकांश क्षेत्रों पर प्रकाशित विवरणों के अभाव में संश्लेषण के लिए डेल्स की पद्धति का उपयोग करना कठिन हो जाता है। डेल्स ने वैसे भी बहुत से स्वयं निर्धारित काल-प्रभेदों की निरपेक्ष तिथियाँ नहीं दी हैं।

यहाँ हम पहले मेसोपोटामिया और ईरानी पुरातात्त्विक सम्पर्कों और सादृश्य के आधार पर कुछ निरपेक्ष तिथियाँ निर्धारित करने का प्रयास करेंगे। हिस्सार एक बहुत महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है जहाँ से प्राप्त सामग्री को आधार मान कर बलूचिस्तान के अनिश्चित सांस्कृतिक कालानुक्रम को समकालीन ईरान से जोड़कर निश्चित किया जा सकता है। पुरातात्त्विक व रेडियोकार्बन प्रमाणों द्वारा हिस्सार काल I-ए को 3700 ई.पू. व हिस्सार I-बी का प्रारम्भ 2500 ई.पू. माना जा सकता है। दूसरे सिरे पर ईरान की तिथियाँ मेसोपोटामियाँ के सम्पर्कों पर निर्भर करती हैं। उबैद काल उत्तर-पश्चिम में पिसडेली को लगभग उबैद स्तर का मानकर (परवर्ती उबैद, 4000 ई.पू.) पश्चिम से पूर्व की ओर बढ़ते हुए सियाबाद, गियान, स्याल्क और हिस्सार तक एक सांस्कृतिक सादृश्य दृष्टिगोचर होता है। रेडियोकार्बन तिथियों के आधार पर पिसडेली संस्कृति का काल लगभग 3800 ई.पू. व हिस्सार VII का लगभग 2150 ई.पू. है। पिरडेली संस्कृति हिस्सार I-ए और स्याल्क काल III की समकालीन है। और हसानलू VII हिस्सार III भी प्रायः समकालिक है।

निम्न विवेचना में तिथि निर्धारण के लिए पुरातात्त्विक व रेडियोकार्बन प्रमाणों को

अलग-अलग रखने का प्रयत्न किया गया है।

(II) उत्तर-पश्चिमी इतर-हड़प्पा (प्राग्हड़प्पा) संस्कृतियाँ

(क) पुरातात्त्विक प्रमाण

भारत-पाक उपमहाद्वीप के उत्तर-पश्चिमी पहाड़ी क्षेत्र की संस्कृतियों का यहाँ हम केवल कालानुक्रम-सर्वेक्षण करेंगे जो अफगानिस्तान से प्रारम्भ किया जायेगा।

सर्वप्रथम हम दक्षिणी अफगानिस्तान में स्थित देह मोरासी घुँडई और मुंडीगाक के विभिन्न कालों की सांस्कृतिक विशिष्टताओं का संक्षेप में वर्णन करने के पश्चात् इन स्थलों की बलूचिस्तान के स्थलों से तुलना करेंगे।

मोरासी काल I से कुछ अपरिष्कृत बर्तन, जिन्हें 'सईद कला' मृद्भाण्ड का नाम दिया गया है, मिले। अन्य कोई सांस्कृतिक अवशेष यहाँ नहीं मिले। पर काल II में यहाँ एक छोटे ग्राम के रूप में बस्ती प्रकट हुई। इस काल के मुख्य मृद्भाण्ड पंजबई दूधिया-पीली सतह व मैवंड-लाल सतह हैं। इस काल के ही कुछ मृद्भाण्डों की सदृश्यता स्याल्क काल III और हिस्सार II से है। ताम्र की केवल कुछ सुइयाँ व नलियाँ ही मिली हैं। इनके अतिरिक्त इसी काल से झोब मृण्मूर्तियाँ व कई खाने वाली मुहरें भी मिलती हैं। इस काल के वर्तुलाकार चषक की तुलना मुंडीगाक काल II से की जा सकती है। काल III के मुख्य लक्षण हैं, ईटों से बनी कब्र और पशमूल लाल स्लिप वाले मृद्भाण्ड। काल III में बस्ती उजड़ने के बाद, काल IV के निक्षेप से ताम्र की खानेदार मोहर और लहरदार मृद्भाण्ड मिले।

कजाल ने मुंडीगाक से उत्खनित सामग्री को सात कालों में बाँटा है। काल I में एक छोटी सी बस्ती व हस्तनिर्मित मृद्भाण्ड मिलते हैं। इसके शीघ्र पश्चात् ही प्रकाल I_2 में चाकनिर्मित मृद्भाण्ड, ताम्र व चित्रित साँड की लघु मूर्तियाँ भी उपलब्ध हुई हैं। ताम्र उपकरण मानवाकार मृण्मूर्तियाँ, प्रस्तर की नोकें व फलक, पकी मिट्टी के चक्र, हड्डी का सूआ और पत्थर की कुदाली, काल II की विशेषताएँ हैं। काल III में सिन्धु का प्रभाव अधिक लक्षित होता है। हड्डी व प्रस्तर मोहरें तथा पकी मिट्टी की नालियाँ उल्लेखनीय हैं। हत्थे के लिए छेद वाली कुल्हाड़ी और बसूला भी मिले। काल IV में एक महल, एक मंदिर व दो परकोटों से घिरा 1 कि.मी. घेरे वाले एक दुर्ग के अवशेष इस बात के प्रमाण हैं कि यह स्थल नागरीकरण की ओर अग्रसर होने लगा था। इसी काल से झोब प्रकार की लघु मूर्तियाँ भी मिली हैं। हस्तनिर्मित मृद्भाण्ड व न्यून संख्या में ताम्र उपकरण काल V के ह्रास के द्योतक है। सूक्ष्म डिजाइन वाले लाल मृद्भाण्ड काल VI की विशिष्टताएँ हैं, तो लोह उद्योग काल VII की।

(ख) डेल्स के चरण C संस्कृतियों के परस्पर सम्बन्ध

चाक ताम्र और बस्तियों का आविर्भाव डेल्स के चरण C की पहचान है। डेल्स ने राना घुंडई I व सूर जंगल काल I चरण को C में रखा है। परन्तु न तो यहाँ स्थायी बस्तियाँ

थीं और न चाकनिर्मित मृद्भाण्ड ही।

उपर्युक्त विशिष्टताओं को देखते हुए चरण C में मुंडीगाक I (अफगानिस्तान), अंजीरा II तथा क्वेटा व झोब के अन्य स्थलों को रखा जा सकता है। लेकिन मुंडीगाक I के हस्तनिर्मित मृद्भाण्डों व अर्द्ध यायावर जीवन की साम्यता राना घुंडई I से ठीक बैठती है। यद्यपि मुख्यतः हड्डी व प्रस्तर के हथियार प्रचलित थे, फिर भी मुंडीगाक I_2 से चाकनिर्मित मृद्भाण्ड व धातु के फलक तथा प्रकाल I_4 से कुछ दूसरी वस्तुएँ भी मिली हैं। किलीगुल मोहम्मद के काल II व III (डेल्स इन्हें एक ही काल के अन्तर्गत रखते हैं) के 22 मृद्भाण्ड प्रकारों में से 17 हस्तनिर्मित थे। इन कालों के मृद्भाण्डों की विशिष्टताएँ हैं, बिन्दु चिह्नित झूलते त्रिकोण और बिन्दु चिह्नित अष्ट अथवा षष्ट कोण। यही डिजाइन हिस्सार IC, बाकुन III A, स्याल्क III 1-5 से भी मिले हैं। इस क्षेत्र में सर्वप्रथम मुंडीगाक काल I के द्विरंगी मृद्भाण्डों में पट्ट डिजाइन देखने को मिलती हैं। इनके अतिरिक्त अन्य विशेषताएँ हैं, मृद्भाण्डों की सतहों के निरूपण में विशेष दक्षता और टोकरी चिह्नित आर्द्र भाण्ड (Wet Ware)। मुंडीगाक काल I से मिलने वाले टोगाउ A मृद्भाण्ड शैलीगत दृष्टि से परवर्ती अंजीरा II और स्याल्क III 4-5 काल के सदृश्य हैं जो कि मुंडीगाक 1-5 और हिस्सार IC के प्रकार के हैं। हत्थेदार अनगढ़ पत्थर के बांट भी इस चरण में मिलते हैं। समानान्तर धारों वाले चकमक फलक हिस्सार I, स्याल्क III और अंजीरा II से उपलब्ध हुए हैं। साँड़ों की मृण्मूर्तियाँ झोब घाटी के संकलनों के अतिरिक्त केवल मुंडीगाक की खुदाई से ही प्राप्त हुई हैं, जबकि राना घुंडई से कोई नहीं मिली। डी कार्डी के मतानुसार साँड़ की मृण्मूर्तियाँ स्याल्क काल II और अंजीरा में भी मिली हैं। अलाबास्टर पात्र मृण्मूर्तियाँ स्याल्क काल II और अंजीरा में भी मिली हैं। अलाबास्टर पात्र मुण्डीगाक I और स्याल्क III 5-7 कालों में प्रचलित थे। काले लम्बे से त्रिकोण, धारीदार त्रिकोण के जालीदार पट्ट आदि कुछ डिजाइनों के आधार पर ही कार्डी अंजीरा काल II की तुलना स्याल्क काल I से करती हैं। तुलनात्मक दृष्टि से स्याल्क II की तुलना स्याल्क काल I से करती हैं। तुलनात्मक दृष्टि से स्याल्क III का सादृश्य इस चरण से अधिक है, परन्तु स्याल्क में चाकनिर्मित मृद्भाण्ड काल II तक प्रकट नहीं हुए।

उपर्युक्त सामग्री के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि अधिकांश अवशेष स्याल्क III 4-5 और हिस्सार I के B और C चरणों के अनुरूप हैं। अतः चरण I का काल लगभग 3300 से 3000 ई.पू. निर्धारित किया जा सकता है। चरण C के स्थल मुख्यतः अफगानिस्तान व उत्तर और मध्य बलूचिस्तान में हैं। इससे अगले चरण में न केवल अफगानिस्तान, बलूचिस्तान बल्कि सिन्ध में भी स्थायी बस्तियाँ व द्विरंगी तथा बहुरंगी मृद्भाण्ड प्रकट होने लगते हैं। आम्री के काल I और II के सांस्कृतिक अवशेषों को हम डेल्स के चरण डी के अन्तर्गत लेंगे।

कजाल में सिन्ध में आम्री की उत्खनित सामग्री को तीन कालों में बाँटा है। प्रकाल

I आभ्री संस्कृति; काल II अंतवर्ती व काल III हड़प्पा संस्कृति का है। भण्डार के घड़े, हस्त निर्मित मृद्भाण्ड, बोलापत्थर और कुछ ताम्र के टुकड़े आदि I-ए काल की विशिष्टताएँ हैं। कुछ ठीकरे टोगाउ सी के सदृश हैं। कच्ची ईटों के मकान व विविध प्रकार के डिजाइन काल I-बी की विशिष्टताएँ हैं। चाक-निर्मित मृद्भाण्ड, मिट्टी व पत्थर से बने मकान (कुछ खोखले चबूतरे वाले) काल IC में मिलते हैं। एक ठीकरे में अंकित कुबड़े साँड़ व कुछ अन्य पशु रूप डिजाइन अन्तिम काल I-डी का प्रभेद करते हैं। इससे पूर्व के डिजाइन केवल ज्यामितिक हैं। काल I के विविध भागों में विकास की निरन्तरता का आभास होता है (ओरख 4)। काल I के पश्चात् टीले को समतल स्तर बनाकर ही, काल II की बस्ती शुरू होती है। लेकिन कोई सांस्कृतिक विच्छेद नजर नहीं आता। आभ्री मृद्भाण्डों के साथ-साथ हड़प्पा किस्म के ठीकरों के सहअस्तित्व के कारण काल II को अंतर्वर्ती काल कहा जा सकता है। काल III पूर्णरूपेण हड़प्पा संस्कृति का है।

अब हम प्रारम्भिक संस्कृतियों के कालानुक्रमिक सह-संबंधों पर प्रकाश डालेंगे। कालीबंगन के अतिरिक्त राजस्थान के बहुत से स्थलों से सोथी मृद्भाण्ड मिले हैं। बहावलपुर और कोटदीजी में स्थायी बस्ती के अवशेष मिलते हैं। यद्यपि द्विरंगी मृद्भाण्डों के अनेक आकार और डिजाइन समान हैं, तथापि क्षेत्रीय विभाजन की दृष्टि से (डेल्स का मत पिछले अध्याय 2 में दिया जा चुका है) द्विरंगी अलंकरण निचले सिन्ध के मैदान (आभ्री) और दक्षिणी गिरिपादों में केन्द्रित था, तो बहुरंगी अलंकरण नाल के उच्च स्थलों में। संभवतः बहु व द्विरंगी अलंकरण और कुबड़े साँड़ का व्यापन यहाँ अफगानिस्तान से हुआ हो। आभ्री और नाल से पशु व मानवी लघु मूर्तियाँ उपलब्ध नहीं हुई, जबकि मुंडीगाक काल II से मिट्टी की नारी लघु मूर्तियाँ मिली हैं। जैसे पहले भी कहा जा चुका है कि डेल्स का कथन है, यद्यपि शुरू से ही पहाड़ी और मैदानी बस्तियों में एक दूसरे का प्रभाव मालूम देता है, लेकिन मूलतः वे विभिन्न परम्पराओं की उपज थे। दोनों में से किसी का भी उद्गम अभी तक निश्चित नहीं है। वैसे बहुरंगी परम्परा का स्रोत मुंडीगाक होते हुए, पश्चिम की ओर खोजा जा सकता है।

मुंडीगाक काल I 4-5 से चरण सी के अंत में द्विरंगी मृद्भाण्ड मिलने लगते हैं। पिगट और गॉर्डन के मतानुसार नाल की कब्रगाह उसकी बस्ती से बाद की है। लेकिन नाल कब्रगाह के सदृश, बहुरंगी अलंकरण और छल्लेदार आधार वाले कटोरे, मुंडीगाक काल IV में मिलते हैं और इस प्रकार ये नाल के D और F क्षेत्र के बाद के स्तरों से पूर्ववर्ती माने जाने चाहिए। दूसरी ओर नाल के मत्स्य डिजाइन वाला एक कटोरा मुंडीगाक काल IV से भी उपलब्ध हुआ है। छल्लों से अलंकृत धूसर कटोरे, नाल के बहुरंगी मृद्भाण्ड और केची बेग (स्याह स्लिप पर सफेद) मृद्भाण्ड के बीच सम्बन्ध इंगित करते हैं। अंजीरा काल III से टोगाउ D ठीकरों के साथ नाल जैसे बहुरंगी मृद्भाण्ड मिले हैं। अंजीरा काल III के मकानों की नींव में अनगढ़ से चौकोर पत्थरों का प्रयोग किया गया है। स्याह में इसी चरण का बना एक चबूतरा मिला है। नाल की खुदाई से प्राप्त एक प्याला मुंडीगाक काल IV के सदृश है और F क्षेत्र का एक बर्तन आकार और अलंकरण में सदात मृद्भाण्ड के समरूप है।

जैसा कि ऊपर भी बताया गया है आम्री काल I-ए की विशिष्टताएँ हस्तनिर्मित मृद्भाण्ड (थोड़े से चाक-निर्मित भी), ताम्र के टुकड़े, व चर्ट फलक हैं। इस काल की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि टोगाउ सी कालीन ठीकरे हैं, जो कि मध्य और उत्तरी बलूचिस्तान के सम्बन्धों की सूचक हैं। सिन्धु सभ्यता के कुबड़े साँड़ का चित्रण आम्री के अन्तिम चरण ID काल से मिला है। आम्री काल II व कोटदीजी में द्विरंगी मृद्भाण्ड का चलन था। यद्यपि कोटदीजी व कालीबंगन संपूर्ण अवशेषों में एकदम अनुरूपता नहीं है तो भी कोटदीजी व कालीबंगन प्राग्हड़प्पा मृद्भाण्डों में सगोत्रता स्पष्ट है। ये मृद्भाण्ड 'सोथी', 'कालीबंगन' और 'कोटदीजी' आदि कई नामों से प्रसिद्ध हैं। जैसे पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है कि ये तथाकथित प्राग्हड़प्पा ग्रामस्थल, हड़प्पा संस्कृति के समकालीन थे, अथवा इस नागरिक संस्कृति के ही ग्रामीण पूरक थे। मुंडीगाक काल II और III में ताम्र अपेक्षाकृत अधिक मिलता है जैसे - दो मरगोल वाली सूइयाँ, नाकेदार सूइयाँ, हत्थे के लिए छेदवाली कुल्हाड़ियाँ और बसूला (स्याल्क III के सदृश) आदि। बहुत अच्छे बने हुए समानान्तर धारों वाले प्रस्तर फलक भी इस काल में काफी प्रचलित थे। मुंडीगाक काल IV और कोटदीजी से 'लौरेल' पर्णाकार के बाणाग्र मिले हैं। इसी चरण से चित्रित कुबड़े साँड़ व नारी की लघु मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। सिन्ध व बलूचिस्तान संस्कृतियों से भी पूर्व, कुबड़े साँड़ की लघु मूर्तियाँ, मुंडीगाक काल III से मिलती हैं। इसी चरण से सकेन्द्रीय डिजाइनवाली हड्डी व प्रस्तर की मोहरें भी प्राप्त हुई हैं, जबकि धातु की कोई मोहर नहीं मिली।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि फल-धारक बर्तन, धूसर मृद्भाण्ड, पकी मिट्टी की नारी लघु मूर्तियाँ, ताम्र की हत्थे के लिए छेदवाली कुल्हाड़ियाँ और मोहरें आदि अवशेषों के आधार पर इस काल को हिस्सार II और स्याल्क III के समकक्ष रखा जा सकता है। अतः डेल्स के चरण D का काल लगभग 3000 से 27000 ई. पूर्व के बीच निर्धारित किया जा सकता है।

(ग) बस्तियों में किलेबन्दी का प्रादुर्भाव

गाँवों के परकोटे वाली बस्तियों में विकसित होने के काल को डेल्स के चरण E के अन्तर्गत रखा गया है। मुंडीगाक से काल IV में एक परकोटे, एक प्रासाद व एक मन्दिर के अवशेष मिले हैं। कोटदीजी की बस्ती भी परकोटे से घिरी थी। इसमें बहुरंगी शैली का स्थान लाल सतह पर काले चित्रों वाले भाण्डों ने ले लिया। यद्यपि लिपि का प्रादुर्भाव अभी नहीं हुआ था तो भी मुंडीगाक काल IV में मृद्भाण्डों पर कुम्हारों के अपने विशिष्ट निशान बने मिलने लगते हैं। अब पूर्वकालीन ज्यामितिक डिजाइनों के स्थान पर नैसर्गिक व वक्ररेखीय डिजाइन अंकित होने लगे। जैसा कि दंबसदात काल III और मुंडीगाक IV में स्पष्ट हो जाता है। बुकरानियम डिजाइनों की प्राप्ति के आधार पर, निन्दोवारी के कुल्ली स्तर, को नाल के परवर्ती कब्रगाही स्तर व मुंडीगाक काल IV को समसामयिक कहा जा सकता है। इसी प्रकार कुबड़े साँड़ों की लघुमूर्तियाँ, दंबसदात III, आम्री III, कोटदीजी I

और नाल के परवर्ती कब्रगाही स्तरों के बीच सहसंबंध दर्शाती हैं। वैसे ये लघुमूर्तियाँ काल III से ही मिलने लगती हैं। कुल्ली संस्कृति का काल निर्धारण करना भी एक समस्या है। एक ओर गौर्डन व पिगट हड़प्पा व कुल्ली संस्कृति को समकालीन समझते हैं तो दूसरी ओर व्हीलर कुल्ली को पूर्ववर्ती और प्राग्हड़प्पा मानते हैं। पर अब कार्बन तिथियों ने अपना मत पिगट के पक्ष में देकर इस विवाद को समाप्त कर दिया है। निन्दोवारी से, कुल्ली मृद्‌भाण्ड के साथ बुकरानियम चित्रित, नाल के प्रकार के इतर-बहुरंगी मृद्‌भाण्ड मिले हैं। दूसरी ओर बहुत से मृद्‌भाण्डों के आकार व डिजाइन आम्री व नाल संस्कृतियों में एक से हैं। इन प्रमाणों से प्रतीत होता है कि नाल, आम्री और कुल्ली कम से कम कुछ समय के लिए समकालीन संस्कृतियाँ थीं।

(घ) मिट्टी के कुटी-मॉडलों का तिथि-निर्धारण में महत्त्व

अलंकरण की दृष्टि से इन कुटी-मॉडलों अथवा खानेदार पात्रों को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है। प्रथम वर्ग में, वक्ररेखीय व ज्यामितिक डिजाइन के खाने वाले माडल सिन्ध व बलूचिस्तान में मिलते। इनमें बलूचिस्तान के खानेदार पात्र गोल हैं तो सिन्ध के चौकोर व पसलीदार (Ribbed) है, और वे बने भी भिन्न पदार्थ के हैं। हाल में फारस की खाड़ी के उम्मअन-नार के सगौंरा शवाधान (काल II) से ये पात्र मिले हैं। इस स्थल से प्राप्त कुल्ली के प्रकार के अवशेष इन दोनों संस्कृतियों के मध्य व्यापारिक सम्पर्क के द्योतक हैं। इस प्रमाण द्वारा पिगट के इस मत की पुष्टि होती है कि इन खानेदार पात्रों का मकरान से पश्चिम को निर्यात सुगंधित लेप भेजने के लिए हुआ करता था। द्वितीय वर्ग के पात्रों में वास्तुशिल्पीय या जीव-वनस्पति दृश्य अंकित हैं, तो तृतीय वर्ग में पौराणिक दृश्य। उपर्युक्त दोनों ही प्रकार के उदाहरण सिन्ध और बलूचिस्तान में नहीं मिलते।

प्राप्त कुटी-मॉडल – पात्रों की सूची

वर्ग	सिन्ध	बलूचिस्तान	द.पू. ईरान	एलाम और लूरिस्तान	मेसोपोटामिया	सीरिया
I	2	4	1	6	5	2
II	0	0	2	1 (सूसा)	5	1
III	0	0	0	0	6	6

(ङ) समान सांस्कृतिक विशेषक और काल-निर्धारण

दंबसदात II, नाल (बस्ती से), कुल्ली और मेही से लाजवर्द मिला है। मरगोल सिरे वाली ताम्र सुई का तिथि-निर्धारण के लिए विशेष उपयोग नहीं है। इसी प्रकार इस चरण की चित्रित या उत्कीर्ण डिजाइनों वाली खोखली, मिट्टी की गेंदे बहुत से स्थलों में पायी जाती हैं।

मुंडीगाक IV और सिन्धु घाटी के मध्य, काल-साम्य दर्शाने वाली अन्य वस्तुएँ हैं पकी मिट्टी की चूहेदानियों और प्रस्तर-मुंड, मुंडीगाक IV, के प्रस्तर निर्मित मानव-मुंड की तुलना मोहनजोदड़ों के एच-आर क्षेत्र के, दक्षिण की गली के ए-I मकान से, प्राप्त मूर्ति से की जा सकती है। इसके सिर पर बँधे फीतों, सफाचट मूछों, दाढ़ी व कानों के निरूपण में स्पष्ट सादृश्य है।

मुंडीगाक और नाल जैसी धातु की खानेदार मोहरों के आधार पर चरण E का संबंध हिस्सार II-बी काल से किया जा सकता है। पंखेनुमा हाथ वाली मुंडीगाक IV की मिट्टी की लघुमूर्ति, बाकुन ए जैसी है। मृद्भाण्डों पर पशु चित्रण शैली की सगोत्रता सूसा D और उम्म-अन-नार से हैं। उत्कीर्ण डिजाइन वाले खानेदार पात्र या कुटी-माडल मेसोपोटामिया के 'अर्ली-डायनैस्टी' (Early Dynasty) के प्यालों के सदृश है। पश्चिमी एशिया के उपर्युक्त सम्बन्धों के आधार पर डेल्स के चरण E का काल 2700 से 2400 ई.पू. रखा जा सकता है।

अधिकांश सांस्कृतिक विशेषकों का पश्चिम में पहले पाया जाना इस बात का प्रमाण है कि पूर्व ने इन विशेषकों को पश्चिम से पाया। अतः इन सांस्कृतिक लक्षणों का कालानुक्रम अफगानिस्तान की अपेक्षा ईरान में, बलूचिस्तान की अपेक्षा मुंडीगाक के स्थलों में पूर्ववर्ती होगा। फलतः मेसोपोटामिया के किसी प्राचीन विशेषक की बलूचिस्तान में अपेक्षाकृत परवर्ती तिथि होगी। लेकिन सिन्ध से, व्यापार द्वारा, मेसोपोटामिया पहुँची वस्तुएँ दोनों देशों के बीच काल-साम्य दर्शाती हैं।

(च) इतर-हड़प्पा संस्कृतियों की कार्बन तिथियाँ

ऊपर हमने मुख्यतः पुरातात्त्विक प्रमाणों के आधार पर उपमहाद्वीप के उत्तर पश्चिम की उतर-हड़प्पा ताम्राश्मीय संस्कृतियों का कालानुक्रम निर्धारित करने का प्रयत्न किया। अब हम कार्बन तिथियों (तालिका-1 आरेख-8) के आधार पर इन इतर-हड़प्पा संस्कृतियों का काल निर्धारण करने का यत्न करेंगे।

सर्वप्रथम हम अपना सर्वेक्षण अफगानिस्तान की रेडियोकार्बन तिथियों से प्रारम्भ करेंगे। देह मोरासी घुंडई की (संभवतः काल II की) मुंडीगाक काल III के समकक्ष केवल एक कार्बन तिथि P-1493, 2596±54 ई.पू. है जबकि मुंडीगाक से कई कार्बन तिथियाँ हैं मुंडीगाक की GSY- -50, -51, -52, -53 कार्बन तिथियों के संदूषण के कारण हम उन पर विचार नहीं करेंगे। काल-निर्धारण के लिए डेल्स ने इन स्थलों से पुनः नये नमूने एकत्र किये जिनमें से हमने तीन नमूनों का काल-निर्धारण किया है। सबसे प्रारम्भिक नमूना TF-1129,3145±110 ई.पू. काल I का है, जिसमें एक मानक विचलन (Standard Deviation) त्रुटि जोड़ने से, मुंडीगाक की प्रथम तिथि लगभग 3250 ई.पू. निर्धारित की जा सकती है। C-815, 2807±309 ई.पू. तिथि में त्रुटि बड़ी होने के कारण हम काल II के लिए मध्यवर्ती तिथि लगभग 2800 ई.पू. ही मानेंगे। TF-1131 नमूने की तिथि के

अनुसार काल I का अंत लगभग 2800 ई.पू. हो गया। यदि P-1493, 2596±54 ई.पू. (मोरासी काल II) की भी गणना की जाय, तो मुंडीगाक काल III की तिथि लगभग 2600 ई.पू. निर्धारित होती है, क्योंकि मोरासी II और मुंडीगाक एकरूप संस्कृतियाँ थीं। इसकी पुष्टि आभ्री के काल IC की तिथि TF-863, 2665±110 ई.पू. से होती है। उपर्युक्त तिथियों की आंतरिक संगति के आधार पर आभ्री IB को लगभग 2800 ई.पू. रखा जा सकता है, टी एफ-864, 2900+115 ई.पू. से एक मानक विचलन त्रुटि घटाने से यह तिथि निकलती है। दंबसदात काल I की कार्बन तिथि यू डब्लू-59, 2510±70 ई.पू. पूर्व है। 100 वर्ष के एक मानक विचलन को जोड़ दिया जाय तो इसकी तिथि लगभग 2600 ई.पू. निर्धारित होती है।

पुरातात्त्विक प्रमाणों के आधार पर अग्रवाल ने डेल्स के चरण सी की संस्कृतियों का काल-निर्धारण लगभग 3300-3000 ई.पू. किया था, जिसकी पुष्टि अब कार्बन तिथि आधारित काल-विस्तार (लगभग 3200-2800 ई.पू.) द्वारा होती है। चरण डी का काल जिसमें मुंडीगाक III (मुंडीगाक काल II को काल III का संक्रमण समझते हुए) और आभ्री I आते हैं, लगभग 2800-2600 ई.पू. निर्धारित किया जा सकता है।

डेल्स के चरण इ के अन्तर्गत प्राग्हड़प्पा ही नहीं बल्कि हड़प्पा की समकालीन संस्कृतियाँ भी शामिल की जा सकती हैं, क्योंकि ये नागरीकरण की देहलीज पर पहुँच चुकी थीं। इनमें से कुछ हड़प्पा की समकालीन ग्रामीण पूरक संस्कृतियाँ थीं।

कोटदीजी (सोथी) एक व्यापक संस्कृति थी, जिसके पूर्वी परिधीय क्षेत्र में कुछ परिवर्तन देखने को मिलता है। इसलिए समय की दृष्टि से केन्द्रीय हड़प्पा और परिधीय कोटदीजी समकालिक हुए। परन्तु हमारे विचार से यदि कोटदीजी हड़प्पा की समकालीन ग्रामीण संस्कृति थी तो इनके बीच कालिक व्यापन (Temparale overlap) पूरे क्षेत्र में होना स्वाभाविक ही है। यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि उपर्युक्त विश्लेषण का अर्थ

प्राग्हड़प्पा व हड़प्पा संस्कृति स्थलों की कार्बन-तिथियाँ

स्थल	कार्बन तिथियाँ ई.पू. (अर्धायु 5730 वर्ष)	स्थल	कार्बन तिथियाँ ई.पू. (अर्धायु 5730 वर्ष)
आभ्री (पाकिस्तान)	TF-863, 2665±100 TF-864, 2900±115	गाली गाई (पाकिस्तान)	R-378a, 1923±55
दंब सदात (पाकिस्तान)	UW-60, 2200±165 P-523, 2200±75 L-180E, 2200±360 L-180C, 2220±410 P-522, 2550±200 L-180B, 2320±360 UW-59, 2510±70	मोहनजोदड़ो (पाकिस्तान)	PF-75, 1755±115 P-1182A 1865±65 P-1176, 1965±60 P-1178,A 1965±60 P-1180, 1995±65 P-1179, 2085±65 P-1177, 2155±65

स्थल	कार्बन तिथियाँ ई.पू. (अर्धायु 5730 वर्ष)	स्थल	कार्बन तिथियाँ ई.पू. (अर्धायु 5730 वर्ष)
कोटदीची (पाकिस्तान)	P-195, 2100±140 P-180, 2250±140 P-179, 2330±155 P-196, 2600±145	कालीबंगन काल II (राजस्थान)	TF-143 1665±110 TF-946, 1765±105 TF-149, 1830±145 TF-150, 1900±105
निआई वूथी (पाकिस्तान)	P-478, 1900±65		TF-605, 1975±110 P-481, 2050±75
मुंडीगाक (अफगानिस्तान)	TF-1129, 3145±110 TF-1132, 2995±105 TF-1131, 2755±105		TF-153, 2075±110 TF-25, 2090±115 TF-942, 2225±115 TF-152, 1770±90
निंदोबारी दाँब (पाकिस्तान)	TF-862, 2065±110		TF-142, 1790±105 TF-141, 1860±115 TF-139, 1930±105
कालीबंगन काल I (राजस्थान)	TF-154, 1820±115 TF-156, 1900±110 TF-165, 1965±105 TF-161, 2095±105 TF-240, 1765±115 TF-162, 2105±105 TF-241, 2255±95 TF-157, 2290±120 TF-155, 2370±120		TF-151, 1960±105 TF-948, 1980±100 TF-147, 2030±105 TF-145, 2060±105 TF-608, 2075±110 TF-947, 1925±90 TF-163, 2080±105 TF-607, 2090±125 TF-160, 2230±105
लोथल (गुजरात)	TF-19, 1800±140 TF-23, 1865±110 TF-29, 1895±115 TF-26, 2000±125 TF-27, 2000±115 TF-22, 2010±115 TF-133, 1895±115 TF-136, 2080±135	सुरकोट्डा (गुजरात)	TF-1301, 2000±135 TF-1305, 2055±100 TF-1310, 1970±100 TF-1295, 1940±100 TF-1294, 1780±100 TF-1297, 1790±95 TF-1307, 1660±110 TF-1311, 1780=90
रोजडी (गुजरात)	TF-199, 1745±105 TF-200, 1970±115	बाड़ा (पंजाब)	TF-1204, 1845±155 TF-1205, 1890±95 TF-1207, 1645±90

तालिका 1 : प्राग्हड़प्पा व अन्य हड़प्पा सांस्कृतिक स्थलों की कार्बन तिथियाँ

यह नहीं कि कोटदीजी संस्कृति का हड़प्पा संस्कृति से पहले प्रादुर्भाव नहीं हुआ था।

चरण इ की संस्कृतियों, उदाहरणार्थ दंबसदात II और III, कोटदीजी I, और कालीबंगन काल I की कार्बन तिथियाँ उपलब्ध हैं जिनके अनुसार कोटदीजी का प्रारम्भ लगभग 2600 ई.पू. (पी-196) और अन्त 2100 से 2000 ई.पू. (पी-195) के मध्य है। अधिकांश से कार्बन तिथियों (एल-180 बी, एल.180 ई और पी-523) के अनुसार दंबसदात काल II का काल 2200 ई.पू. निर्धारित होता है। दंबसदात काल III की कार्बन तिथि यू.डब्लू. 60 2200±165 ई.पू. है, काल II की तीनों ही तिथियाँ अनुरूप होने के कारण, हम काल III की उच्चतम प्राप्त तिथि में से 100 वर्ष का मानक विचलन हटाने पर, इसका काल लगभग 2050 ई.पू. निर्धारित करेंगे (देखें तालिका 1)।

कार्बन नमूने जितने ही अधिक गहराई तक टीले की मिट्टी से ढके होते हैं उतने ही विदूषण से बचे रहते हैं। कालीबंगन टीले की मिट्टी से ढके हुए, कई नमूनों की कार्बन तिथियाँ प्राप्त हैं। कालीबंगन काल I की नौ तिथियाँ ज्ञात हैं। टीले की परिधि से प्राप्त नमूनों की तिथियाँ अपेक्षाकृत नयी हैं जिसका कारण विदूषण हो सकता है। इसके विपरीत मिट्टी से अच्छी तरह ढके नमूनों की तिथियाँ विश्वसनीय होती हैं। इन विदूषण-जनित समस्याओं के कारण यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि काल I कब समाप्त हुआ, और काल II कब प्रारम्भ हुआ। यदि टीले I के नमूने विदूषण रहित थे तो उत्तरकालीन कालीबंगन काल I की तिथि लगभग 1800-1960 ई.पू. (टीएफ 154, -156, -165) है। जैसे पहले भी बताया गया है, घोष के कथनानुसार कालीबंगन से हड़प्पा काल और काल I के मृद्भाण्ड, काल I के मकानों में भी मिले हैं। काल I के प्रारम्भिक चरणों की तीन तिथियाँ हैं – टीएफ-155, 2370 ± 120,-157, 2290±120 और 241, 2255±95। क्योंकि तीनों ही नमूने प्रारम्भिक चरण के हैं अतः विभिन्न तिथियों से औसत तिथि 2295±65 ई.पू. आती है। इसमें एक मानक विचलन की त्रुटि जोड़ने से यह तिथि 2360 ई.पू. अर्थात् लगभग 2400 ई.पू. बैठती है। इस प्रकार कार्बन पद्धति द्वारा कालीबंगन का प्राग्हड़प्पा संस्कृति का अधिकतम काल लगभग 2400-1800 ई.पू. व निम्नतम काल लगभग 2300-2000 ई.पू. इंगित होता है।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर हड़प्पा से पूर्ववर्ती चरण 'इ' का काल लगभग 2600-2400 ई.पू. होता है जबकि चरण 'इ' की अन्य संस्कृतियाँ (हड़प्पा की समकालीन) बहुत बाद तक जीवित रहीं। उदाहरणार्थ पंजाब के बाड़ा मृद्भाण्डों पर उत्कीर्ण डिजाइन (कंठ पर की कासी चौड़ी पट्टी) की सगोत्रता कालीबंगन काल I से होते हुए भी बाड़ा की तिथि टीएफ-1204-1205 के अनुसार 1800-1900 ई.पू. है। इन कार्बन तिथियों से भी प्रतीत होता है कि तथाकथित प्राग्हड़प्पा और हड़प्पा समकालीन संस्कृतियाँ थीं।

निआई बूथी और निंदोबारी दंब से प्राप्त दो तिथियों पी-478, 1600±65 और टीई 862, 2065±110 ई.पू. के अनुसार कुल्ली संस्कृति का काल लगभग 2009 ई.पू. निश्चित होता है। उपर्युक्त तिथियों और फारस की खाड़ी के स्थलों से मिले पुरातात्त्विक प्रमाणों के आधार पर इसे निश्चयपूर्वक हड़प्पा की समकालीन संस्कृति कहा जा सकता है।

(III) हड़प्पा संस्कृति का कालानुक्रम

(क) पुरातात्विक प्रमाण

प्राप्त प्रमाणों के तार्किक विश्लेषण के आधार पर सर्वप्रथम व्हीलर ने हड़प्पा संस्कृति का काल-विस्तार लगभग 2500 से 1500 ई.पू. निर्धारित किया था। यह सहस्राब्दी विस्तार इतना अधिक प्रचलित हो गया कि छोटे-छोटे हड़प्पा संस्कृति के स्थलों के लिए भी प्रयुक्त किया जाने लगा। कुछ विशिष्ट हड़प्पा मृद्भाण्ड-आकार आरेख 6 में दिये गये हैं।

कई विद्वानों ने हड़प्पा संस्कृति के एक सहस्र वर्ष के अति विस्तृत काल विस्तार पर शंकाएँ व्यक्त की हैं। फेयरसर्विस के मतानुसार केवल निक्षेपों की गहराई से उनके काल-विस्तार का सही आभास नहीं होता। बाढ़ जनित विनाश और भवनों का पुनर्निर्माण 25 वर्ष में भी हो सकता है और 250 वर्ष में भी। इस दृष्टि से सिन्ध के बहुत से प्राचीन ग्राम स्थलों के हड़प्पा स्तरों का परीक्षण करने पर उन्हें मालूम हुआ कि कोटदीजी, डाबरकोटी और आम्री जैसे स्थलों की अपेक्षा इनकी हड़प्पा-बस्तियों का काल विस्तार बहुत संक्षिप्त था। इन सब कारणों से वे इस प्रचलित मत को स्वीकार नहीं करते कि सिन्ध में हड़प्पा संस्कृति का काल विस्तार एक सहस्र वर्ष था। उनका विचार है कि यह लगभग 500 वर्ष रहा होगा।

एक सहस्राब्दी के विस्तृत काल में भी हड़प्पा संस्कृति की निरन्तर समरसता और अपरिवर्तनशीलता पर कई विद्वानों ने शंका की है विशेष रूप से उन लोगों ने जो पुरातात्विक स्वयंसिद्ध नियमों से प्रतिबन्धित नहीं हैं। मोहनजोदड़ों के केवल गहरे (पर मुख्यतः अवशेष रहित) निक्षेप के आधार पर इस संस्कृति का इतना लम्बा काल विस्तार निर्धारित किया गया है उसकी प्रामाणिकता पर राइक्स संदेह करते हैं। उनका कथन है कि यह अजीब बात है कि पुरातत्त्ववेत्ताओं के अनुमानानुसार इस शहर के एक सहस्र वर्ष की आबादी के दौरान केवल 10 मीटर निक्षेप एकत्र हुआ, जबकि बाद के 3500 वर्ष में अतिरिक्त गाद एकत्र ही नहीं हुई। उनका कहना है कि कहीं भी इतिहास में 1000 वर्ष तक भौतिक संस्कृति बदले बिना नहीं रही। इसलिए वे एक छोटे काल-विस्तार को अधिक तर्कसंगत मानते हैं।

कार्बन तिथियों ने इन शंकाओं को पुष्ट किया है। अग्रवाल ने भी पुरातात्विक आधारभूत सामग्री का मूल्यांकन व कार्बन तिथियों के आधार पर निश्चयात्मक रूप से इस संस्कृति का संक्षिप्त काल-विस्तार प्रतिपादित किया है। यहाँ पर हम पहले पुरातात्विक प्रमाणों की विवेचना करेंगे।

प्राप्त पुरातात्विक प्रमाणों के सम्बन्ध में दो महत्वपूर्ण अनिश्चितताएँ ध्यान में रखनी होंगी : (i) अधिकांश पुरातात्विक प्रमाण उस काल के हैं जब उत्खनन और स्तरण का वैज्ञानिक तरीका प्रयुक्त नहीं होता था, और (ii) हड़प्पा संस्कृति के काल निर्धारण के लिए भारतीय सी लगने वाली सामान्य वस्तुओं का भी (जो पश्चिम में पायी गयी) उपयोग किया

गया। इसलिए हम हड़प्पा से सम्बन्धित केवल उन प्रमाणों का विश्लेषण करेंगे, जो विशिष्ट रूप से हड़प्पा संस्कृति के हैं अथवा पश्चिमी एशियाई निश्चित तिथियों के शिल्प उपकरणों का, जो भारत के विश्वसनीय उत्खननों से मिले हैं।

हम कालानुक्रम का सारगन-पूर्व (लगभग 2350 ई.पू.), ईसीन-लार्सा (लगभग 2000 ई.पू.) और उत्तर-लार्सा वर्गों के अन्तर्गत अध्ययन करेंगे। यहाँ पर मोहरों की विशिष्ट संख्याएँ गैंड के निबन्ध 'उर से प्राप्त प्राचीन भारतीय शैली की मोहरें' और व्हीलर की पुस्तक 'सिन्धु सभ्यता' के अनुसार दी गयी हैं।

(ख) सारगन-पूर्वकालिक प्रमाण

(i) मोहरें

एक अस्तरीय चौकोर मोहर (गैंड नं. 1) मिली है जिसके पृष्ठ पर बनी घुण्डी के आधार पर ही इसे सिन्धु सभ्यता की समझ लिया गया है। इसमें साँड जैसे जानवर के ऊपर तीन सारगन-पूर्वकालिक चिह्न अंकित है, गैंड ने स्वयं स्वीकार किया है कि केवल फानाकार लिपि के पुरालेखों के आधार पर किसी वस्तु का, विशेषकर मोहरों का, कालानुक्रम निर्धारित करना बहुत गलत हो सकता है। अतः कालनिर्धारण की दृष्टि से उपर्युक्त मोहर का महत्त्व कुछ भी नहीं है।

एक कब्र के कूपक से एक सेलखड़ी की मोहर (गैंड नं. 16) मिली है जिस पर सिन्धु लिपि और साँड़ अंकित हैं। वूली के अनुसार यह उर के द्वितीय राजवंश (II-डायनेस्टी) की है, जबकि फ्रैंकफर्ट इस द्वितीय राजवंश को भी अक्काड (सारगन) काल के अन्तर्गत ही लेते हैं। वूली ने भी बाद में शंका व्यक्त की कि यह निश्चय करना कठिन है कि यह मोहर कब्र विशेष की है या बाद की लड़ाइयों के काल की, जब बाद का मलवा कब्र के कूपक में भर गया। इस प्रकार यह मोहर सारगन काल की भी हो सकती है। वस्तुतः इस मोहर से केवल यह ज्ञात होता है कि सिन्धु का संपर्क सारगन काल के ईराक से रहा होगा।

(ii) कूबड़ वाले साँड़ का अंकन

कूबड़ वाले साँड़ का अंकन सर्वप्रथम लगभग 3100 ई.पू. के दियाला क्षेत्र से प्राप्त सिंदूरी मृद्भाण्ड (Scarlet-ware) पर व मुंडीगाक काल I_3 से मिलता है। चौथी सहस्राब्दी के अन्तिम काल तक ये डिजाइन पश्चिम एशिया के कई स्थलों में प्रचलित थे लेकिन प्राग्हड़प्पा काल में ये डिजाइन नहीं मिलते। जब तक कि हड़प्पा संस्कृति की स्पष्ट छाप इन वस्तुओं पर नजर नहीं आती, ऐसी अस्पष्ट समानताओं का तिथि-निर्धारण में कोई महत्त्व नहीं माना जा सकता। मेसोपोटामिया से प्राप्त लगभग 2700-2500 ई.पू. के कटोरे पर अंकित एक पौराणिक दृश्य के साथ कूबड़ वाले साँड का चित्रण है। मैलोवन के मतानुसार यह भारतीय है, जबकि उसमें कोई भी भारतीय अथवा हड़प्पा जैसी विशिष्टता नहीं है। फलस्वरूप तिथि-निर्धारण की दृष्टि से इसका कोई महत्त्व नहीं है।

(iii) खानेदार प्रस्तर पात्र (या कुटी-माडल)

चक्रवर्ती ने डयूरिंग कैस्पर की उस रिपोर्ट को अनावश्यक महत्त्व दिया है जिसमें डाबरकोट से प्राप्त एक कुरूप प्रस्तर सिर का उल्लेख किया गया है। कैस्पर ने स्वयं स्वीकार किया है कि इस सिर का अनगढ़ शिल्प इस बात का द्योतक है कि यह मेसोपोटामिया के नमूने की कोई बाद में की गयी नकल है।

प्रस्तर पात्रों के वर्गीकरण व विभाजन के विषय में लिखा जा चुका है। मोहनजोदड़ों से भी इनके नमूने प्राप्त हुए हैं।

(अ) डी क्षेत्र के मकान नं. V, कमरा नं. 58 से 8.7 मीटर की गहराई से, चटाई के प्रकार के डिजाइन वाला एक प्रस्तर पात्र का टुकड़ा मिला है।

(ब) मकान नं. III कमरा नं. 76 से 1.5 मीटर की गहराई से प्राप्त उत्तरकालीन चरण के पात्र पर रेखाच्छादित त्रिकोण व त्रि-अरी (चेवरान) डिजाइन बने हैं। इन पात्रो की, इनके एशियाई प्रतिरूपों से तुलना करने पर, दुर्रानी का पूर्वउद्धरित मत, यहाँ पुनः उल्लेखित करना उचित होगा कि 'ये खानेदार पात्र बलूचिस्तान और सिन्ध में ही सीमित हैं, ऐसे पात्र भारत-पाक प्रदेश से बाहर नहीं मिलते।' इनमें भी बलूचिस्तान के पात्र सेलखड़ों के बने गोल हैं तो सिन्धु के स्लेट निर्मित चौकोर व ढक्कन वाले।

मोहनजोदड़ों के प्रारम्भिक स्तर से प्राप्त चटाईदार डिजाइन वाले एक टुकड़े की बहुत निकट साम्यता किश व सूसा डी से है। मैलोवन के अनुसार इसका काल लगभग 2500 ई. पू. समझा जाता है। फारस की खाड़ी के स्थलों से प्राप्त कुल्ली मृद्भाण्ड व खानेदार पात्र इस बात का द्योतक है कि संभवतः कुल्ली वासियों ने ही हड़प्पा और मेसोपोटामिया के मध्य व्यापारिक सम्पर्क स्थापित किया हो।

(iv) स्वस्तिक डिजाइन

ब्राक के टीले से प्राप्त मोहरों पर लोथल जैसी बहुरेखीय स्वस्तिक डिजाइनों के आधार पर राव का मत है कि लोथल का सम्पर्क, अक्काड काल में विदेशों से था। ब्राक के टीले से ऐसे डिजाइन वाले ताबीजों के अधोभाग पर जानवर अंकित हैं, जिनका काल मैलावन के अनुसार लगभग 3200 ई.पू. है। ऐसे सामान्य डिजाइनों का सादृश्य का कालानुक्रम निर्धारण में कोई महत्त्व नहीं है।

उपर्युक्त अस्पष्ट व अनिश्चित प्रमाणों के आधार पर हड़प्पा का काल सारगन पूर्वकाल के समकक्ष नहीं रखा जा सकता।

(ग) सारगन और ईसोन-लार्सा काल के प्रमाण

(i) मोहरें

सेलखड़ी की एक गोलाकार मोहर (गैंड नं. 15) पर अस्पष्ट सा एक लेख है और

वाम शीर्ष पर एक फूल और एक बिच्छू अंकित हैं। इस मोहर का लेख सिन्धु लिपि में नहीं है। यदि इसे हड़प्पा संस्कृति की मोहर मान भी लिया जाय तो भी यह सारगन काल की ही कहीं जा सकती है। केवल पूर्व-उल्लेखित गैंड मोहर नं. 16 सारगन काल की है।

किश से प्राप्त एक चौकोर मोहर (व्हीलर नं. 4) निश्चय रूप से सिन्धु सभ्यता की है। लैंगडन के मतानुसार यद्यपि इसे सारगन-पूर्व काल की होना चाहिए, लेकिन इसके साथ पत्थर की एक मूठ मिली है जिस पर सैंधव लिपि में लेख अंकित है। संभवतः दोनों ही वस्तुएँ बाद को गिरी होंगी। अतः इनसे केवल सारगनकालीन प्रमाणों की ही पुष्टि होती है।

एक बेलनाकार चमकीली सेलखड़ी की (व्हीलर नं. 5) मोहर टेलअसमार से अक्काडकालीन संदर्भ में मिली है। इस पर हाथी, दरयाई घोड़ा और मगर नैसर्गिक शैली में अंकित हैं। उपर्युक्त पशु बेबीलोन में नहीं होते अतः इन्हीं अंकित करने से पूर्व कलाकार ने इन्हें निकट से देखा होगा (शायद सिन्ध में)। टेल-अस्मार के ही अक्काड़ स्तर से एक और मोहर एलाबास्टर की मिली है जिस पर संकेन्द्रित वर्ग अंकित हैं।

स्पाईजर के मतानुसार टेपे आवरा VI से प्राप्त संकेन्द्रिय वर्गों से अलंकृत एक चौकोर पकी हुई मिट्टी की मोहर (व्हीलर नं. 7), उत्तरकालीन प्रारम्भिक राजवंशों (Early Dynasty) की या प्रारम्भिक सारगन काल की है। मैके ने इसे अस्पष्ट सी तिथि दी है, क्योंकि यह समसू-ईलूना के फर्श के नीचे पड़ी मिली, इसलिए इसकी तिथि लगभग 1700 ई.पू. से बाद की नहीं हो सकती। हड़प्पा तथा चांहूदड़ों से प्राप्त एक मोहर पर पंख फैलाये उकाब के रूप में ईमदुगू (लगभग २२०० ई.पू. की मूर्ति) तथा इसी रूप की उकाब अंकित है। ऐसे चित्र लगभग 2400 ई.पू. सूसा से मिलते हैं। मैलोवन ने पंख फैलाये टैल ब्राक से प्राप्त लगभग 2100 ई.पू. की ताम्रजटित मूर्ति का वर्णन किया है।

राव के लोथल के टीले की सतह से (खुदाई से नहीं) सेलखड़ी की एक मोहर मिली है जिसके एक ओर घुंडीदार पीठ और दूसरी तरफ दो हिरन अंकित हैं।

यह मोहर बारबारा और रास-अल-कला से प्राप्त 'फारस की खाड़ी मोहरों' जैसी है। बिब्बी के मतानुसार ऐसी ही मोहरें कुवैत के समीप फैलका से मिलीं, जिन्हें उन्होंने सारगन का काल दिया है। अतः संभावना यही है कि यह मोहर लोथल की हड़प्पा संस्कृति की आबादी के समय में ही विदेश से यहाँ आयात हुई होगी। बूखानन ने लार्सा के राजा गुनगुनूम के दसवें वर्ष (लगभग 1923 ई.पू.) की एक फानाकार लिपि में अंकित तख्ती का वर्णन किया है जिस पर 'फारस की खाड़ी की मोहर' उत्कीर्ण है। उनके कथनानुसार सिन्ध के दूसरे हड़प्पाकालीन आयात, इस तिथि से पहले के बिल्कुल नहीं थे।

तेल्लोह से मिली सिन्धु लिपि वाली मोहर व्हीलर नं. 9 लार्साकालीन है। लार्साकालीन एक कब्र से प्राप्त एक बेलनाकार मोहर (गैंड नं. 5) पर एक कूबड़ वाला साँड़, मानवाकृति, साँप व बिच्छू अंकित हैं। शैली की दृष्टि से इसे हड़प्पा शिल्पकारिता की संज्ञा दी जा सकती है। हामा से मिली एक अन्य बेलनाकार मोहर के ठीकरे (व्हीलर नं. 12) पर कुल्ली प्रकार की बड़ी आँखों वाले साँड (लगभग 2000-1700 ई.पू.) का चित्र बना है।

(ii) मनके

हड़प्पा और मेसोपोटामिया से प्राप्त 8 व 'आँख' प्रकार के (प्रकार I) निक्षारित मनकों में तादात्म्य है। फ्रैंकफोर्ट के अनुसार हड़प्पाकालीन सम्पर्क दर्शाने वाली अन्य वस्तुओं के साथ सारगन काल के ऐसे ही मनके टेलअस्मार के मकानों में मिले हैं। यदि यह नहीं भी माना जाय कि ये हड़प्पा से यहाँ पहुँचे, तो भी इतना तो माना ही जा सकता है कि सारगन काल में इन स्थलों में परस्पर व्यापारिक सम्बन्ध थे। प्रारम्भिक राजवंश (Early Dynasty) या अक्काड काल और ट्रॉय II G से प्राप्त अक्षीय नलिका वाले चक्र-मनकों की तिथि लगभग 2500-2300 ई.पू. है। टेल-अस्मार के सारगान स्तर से प्राप्त चाँदी के चक्र मनके भी इनके समतुल्य हैं। अस्मार के टीले के सारगन स्तर से वृक्क आकार में हड्डी जटित मनकों की सगोत्रता निस्संदेह हड़प्पा के कटे शंख के बने मनकों से है।

लाजवर्द के प्राचीन व्यापार के उतार-चढ़ाव पर व्हीलर का मत है कि सिन्धु सभ्यता का अधिकांश ज्ञात स्तर प्रारम्भिक राजवंश (Early Dynasty) की अपेक्षा अक्काड और परवर्ती अक्काड काल के हैं।

(घ) परवर्ती लार्साकालिक प्रमाण

(i) मोहरें

उर के कस्साईट स्तर के मलवे से प्राप्त लगभग 1500 ई.पू. की घुंडीदार पीठ वाली (गैड नं. 5) मोहर पर, बहंगी लटके दो मशक लिए पनभरा चित्रित हैं। घुंडी के अतिरिक्त हड़प्पा मोहर से इसका कोई साम्य नहीं फलतः तिथि निर्धारण की दृष्टि से मोहर का कोई महत्त्व नहीं है।

(ii) मनके

हड़प्पा से एक अस्तरित खानेदार मनका मिला है। इसके स्पेक्ट्रमी विश्लेषण से ज्ञात हुआ कि इसकी साम्यता मध्य मिनोअन काल III के नमूने से है। ये मनके मिस्र के अट्ठारहवें राजवंश काल में लगभग 1600 ई.पू. प्रचलित थे। दूसरी ओर खाबुर घाटी से लगभग 3200 ई.पू. के भी चमकदार सेलखड़ी के खानेदार मनके मिले हैं। अतः इस प्रकार के अनिश्चित व अस्पष्ट प्रमाण, तिथि-निर्धारण के आधार नहीं हो सकते।

(iii) धातु उपकरण

हड़प्पा संस्कृति के अंतिम काल में कुछ धातु उपकरण प्रचलित थे। इनके पश्चिमी एशियाई प्रतिरूप, विविध व अनिश्चित कालानुक्रमिक संदर्भों में मिलते हैं। इसलिए पिगट ने कहा है कि 'जब तक उनका स्वतंत्र रूप से स्थानीय मूल्यांकन नहीं हो जाता, उनका तिथि निर्धारण में महत्त्व संदिग्ध है। इस प्रदेश में अनेक बाह्य आक्रमणों व देशान्तरणों के फलस्वरूप यह समस्या और भी जटिल हो गयी है। पिगट कहते हैं कि लगभग 2000 ई.

पू. व कुछ सदियों तक बलूचिस्तान के ग्रामों व सैंधव नगरों के अंत काल के समय में जनसमूहों का देशांतरण होता रहा। दूसरे देशांतरण या उपनिवेशीकरण के प्रमाण एक सहस्र वर्ष बाद बलूचिस्तान से मिलते हैं। उदाहरणार्थ 2000 ई.पू. के देशांतरण को शाही टुम्प की कब्रों से जोड़ा जा सकता है, और दूसरे प्रवाह को 900 ई.पू. के संगोरा शवाधानों से।'

(ङ) सारांश

मेसोपोटामिया के प्रमाणों का सिंहावलोकन करते हुए बूखानन ने कहा है कि प्रौढ़ सिन्ध सभ्यता की तिथि लगभग 2300 ई.पू. से प्राचीन नहीं हो सकती। ईराक से इसके लिए कोई प्रमाण नहीं है। उन्होंने इस प्रौढ़ चरण की अवधि 300 साल से अधिक होने की संभावनाओं पर शंका व्यक्त की है। उनके अनुसार यह संभव है कि सिन्धु सभ्यता का प्रौढ़ चरण 2000 ई.पू. तक समाप्त हो गया।

उपर्युक्त कालानुक्रमिक महत्त्व के पुरातात्त्विक प्रमाणों के विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि सिन्धु सभ्यता का पश्चिम एशिया से निश्चित सम्पर्क केवल सारगन काल (लगभग 2350 ई.पू.) और ईसीन लार्सा काल (लगभग 2000 ई.पू.) से था। इस आधार पर हड़प्पा संस्कृति के प्रारम्भ की निम्न सीमा लगभग 2350 ई.पू. इंगित होती है।

(च) हड़प्पा संस्कृति की कार्बन तिथियाँ

1947 के भारत विभाजन के बाद हड़प्पा संस्कृति के स्थल पाकिस्तान के अन्तर्गत चले गये। लेकिन बाद के भारतीय पुराविदों ने इस संस्कृति के कई स्थलों को भारत में खोज निकाला। लाल व थापड़ द्वारा कालीबंगन, राव द्वारा लोथल व ढ़ाकी द्वारा रोजडी के उत्खनन महत्त्वपूर्ण हैं। इन विस्तृत उत्खननों के फलस्वरूप काफी मात्रा में कार्बन नमूने प्राप्त हुए। अब डेल्स द्वारा मोहनजोदड़ो के उत्खनन से प्राप्त (तालिका 1 - आरेख 8) नमूनों पर भी कई कार्बन तिथियाँ मापी गयी हैं। 1964 तक प्राप्त तिथियों के आधार पर अग्रवाल 2300-1750 ई.पू. के बीच बांधी थी। साथ में पुरातात्त्विक प्रमाणों का पुनः विश्लेषण कर हड़प्पा संस्कृति का पश्चिमी एशिया से सम्पर्क लगभग 2300 से 2000 ई.पू. के बीच निश्चित किया था। इस पर व्हीलर ने भी शुरू में स्वीकार किया था कि उनका प्रस्तावित काल-विस्तार (2500-1500 ई.पू.) दोनों ही सिरों से शायद थोड़ा-थोड़ा घटाना पड़े। अब हम काल-विस्तार के अब तक के प्रमाणों की फिर से संक्षिप्त विवेचना करेंगे।

पाकिस्तान के हड़प्पा संस्कृति के प्रारम्भिक काल के नमूने प्राप्त न होने के कारण प्राग्हड़प्पा स्थलों की तिथियों के आधार पर ही, इस संस्कृति के प्रारम्भ का तिथि-निर्धारण करना पड़ता है। मोहनजोदड़ो के ऊपरी स्तरों से अब सात तिथियाँ (तालिका 1, आरेख 8) प्राप्त हैं। पहली तिथि मोहनजोदड़ों के पुराने उत्खनन से प्राप्त झुलसे हुए गेहूँ (TF-75) पर मापी गयी है। अन्य छः तिथियाँ हाल ही में डेल्स द्वारा ऊपरी स्तरों के उत्खनन से प्राप्त नमूनों पर की गयी हैं। ये सब तिथियाँ एक मानक विचलन के अन्तर्गत एकसी हैं। इन सब तिथियों (P-1176, -1178, -1178 A, 01179, -1180 और 1182 A) की त्रुटियों को संयुक्त

कर मोहनजोदड़ो के ऊ‸ ˆ स्तर की तिथि 2005± 25 ई.पू. अर्थात् लगभग 2000 ई.पू. निर्धारित की जा सकती है।

(i) हड़प्पा संस्कृति का केन्द्रीय क्षेत्र

हड़प्पा संस्कृति के केन्द्रीय क्षेत्र की प्रारम्भिक तिथि दंबसदात और कोटदीजी के ठीक पूर्ववर्ती स्थलों की कार्बन तिथियों के बहिर्वेशन (Exrapolation) से निश्चित की जा सकती है। दंबसदात II की तीन तिथियाँ एल.180 सी.एल.180 इ.पी.523 हैं। उनकी बड़ी त्रुटियों की दृष्टि में रखते हुए, वे परस्पर सुसंगत हैं। अन्य तिथियों की अपेक्षा पी.523, 2200±75 ई.पू. की तिथि में न्यूनतम त्रुटि है। इनमें एक मानक विचलन जोड़ने से इसे लगभग 2300 (2275) ई.पू. रखा जा सकता है। इस प्रकार दंबसदात II हड़प्पा संस्कृति के प्रारम्भ की पूर्वकाल सीमा निश्चित करता है। कोटदीजी के काल I के ऊपरी स्तरों की तिथि पी.195, 2100 ±140 ई.पू. है। और एक मानक विचलन के अन्तर्गत कोटदीजी के अंत की तिथि 2240 से 1960 ई.पू. के मध्य स्थिर की जा सकती है। इस आधार पर हड़प्पा संस्कृति का आरम्भ मोहनजोदड़ों में लगभग 2300 ई.पू. निर्धारित कर सकते हैं। मोहनजोदड़ों की सम्पूर्ण तिथि-सीमा इस प्रकार लगभग 2300-2000 ई.पू. निश्चित होती है।

बिना त्रुटियों को सम्मिलित किये अधिकांश तथाकथित प्राग्हड़प्पा संस्कृतियों के उत्तरकालीन स्तरों की कार्बन तिथियाँ, लगभग 2100 ई.पू. से पूर्ववर्ती नहीं हैं। यदि भविष्य में इनमें से कुछ स्थलों की समकालीनता सिद्ध हो जाती हैं, तो हड़प्पा के प्रारम्भ की संभावना लगभग 2300 ई.पू. से पूर्ववर्ती हो सकती है। जब तक हड़प्पा व मोहनजोदड़ों के प्रारम्भिक स्तरों का तिथि-निर्धारण नहीं होता, कोई भी हड़प्पा संस्कृति के केन्द्रीय स्थलों की तिथि, केवल अनुमान मात्र ही समझी जा सकती हैं।

(ii) हड़प्पा संस्कृति का परिधीय क्षेत्र

हड़प्पा संस्कृति के परिधीय क्षेत्र गुजरात और राजस्थान हैं। इस क्षेत्र से लोथल, रोजडी और कालीबंगन का तिथि-निर्धारण किया जा चुका है। थापड़ व लाल द्वारा उत्खनित, कालीबंगन के न केवल अनेक कार्बन नमूनों का मापन किया गया, बल्कि नमूनों के दूषण से बचाने में टीले की आच्छादित मिट्टी का क्या श्रेय है, इसका भी विस्तृत अध्ययन किया गया। इन अध्ययनों से ज्ञात हुआ कि इन प्राचीन संस्कृतियों के नमूनों को जितनी अधिक मिट्टी ने आच्छादित रखा, वे उतने ही अधिक दूषण से बचे रहे, क्योंकि गले हुए पौधों से रिसने वाला ह्यूमिक अम्ल टीले की परतों के अन्दर प्रवेश कर, कार्बनिक नमूनों को संसिक्त कर देता है और उन्हें तथा उनके तिथि निर्धारण को संदेहास्पद बना देता है। मिट्टी छन्ने का कार्य करती है। इस प्रकार नमूना जितनी गहराई से होगा, उतना ही इस दूषण से सुरक्षित रहेगा। टीले के परिधीय व ऊपरी भाग से प्राप्त नमूने (टी.एफ.138,.244) इसी कारण काफी बाद की कम तिथियाँ देते हैं। नमूनों के जीर्ण और छोटे होने के फलस्वरूप ह्यूमिक अम्ल को साफ करने के लिए कई नमूनों पर क्षार का प्रयोग भी नहीं हो सका। इसके

विपरीत टीले की गहराई से प्राप्त टीएफ.607, .608 की तिथियाँ पर्याप्त सुसंगत हैं, और उनसे आशानुकूल पुरानी तिथियाँ मिली हैं।

कालीबंगन के टीले II के प्रारम्भिक स्तरों की दो कार्बन तिथियाँ टीएफ.607, 2090 ±125 ई.पू. और टीएफ.608, 2075 ± 110 ई.पू. हैं। एक मानक-विचलन त्रुटि को इन तिथियों के औसत के साथ जोड़ देने पर, हड़प्पा संस्कृति के प्रारम्भ की उच्चतम तिथि लगभग 2200 ई.पू. आती है। एक और तिथि भी टीएफ.160, लगभग 2200 ई.पू. है। मध्यवर्ती स्तरों की तिथियाँ भी सुसंगत हैं, जबकि ऊपरी स्तरों के नमूनों के परिणामों में विभिन्नता है। सतह के बहुत समीप, (सबसे ऊपरी परत से) मिलने के कारण दूषित दो नमूनों टीएफ.138 और ज्थ-244 की गणना करना निरर्थक है। निचले वे मध्यवर्ती स्तरों से प्राप्त कार्बन तिथियाँ होने के कारण हमने टीएफ 143,.946 और -149 नमूनों को ऊपरी स्तरों की प्रतिनिधि तिथियाँ माना है। इसके आधार पर कालीबंगन में हड़प्पा संस्कृति के अंत की तिथि लगभग 1700-1800 ई.पू. कही जा सकती है। ह्यूमिक दूषण और बड़ी त्रुटियों के फलस्वरूप इन स्थलों में कार्बन पद्धति इतनी अधिक कारगर नहीं हो पाती। इसी प्रकार लोथल में हड़प्पा संस्कृति के अंत की तिथि चरण V-ए से प्राप्त टी एफ 23ए 1865±110 और टीएफ.19ए 1800 ± 140 ई.पू. के आधार पर लगभग 1800 ई.पू. है जबकि अल्विन के मतानुसार लोथल में इस संस्कृति का अंतिम चरण IV-ए है। चरण V को वे उप-हड़प्पा काल कहते हैं, जिसमें 'आंशिक औपनिवेशिक शासन का अंत तथा एक स्वतंत्र प्रान्तीय (क्षेत्रीय) संस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ।' लोथल काल I से प्राप्त केवल एक तिथि टीएफ.136ए 2080±135 में एक मानक विचलन जोड़ने से इसका काल लगभग 2200 ई.पू. निर्धारित किया जा सकता है। यदि चरण V को उप-हड़प्पा काल मान लें, तो शुद्ध हड़प्पा संस्कृति का अंत बहुत पहले ही (1900 ई.पू. के आस-पास टीएफ-29, चरण IV) हो गया होगा। इस प्रकार परिधीय हड़प्पा संस्कृति का काल विस्तार लगभग 2200-1700 ई.पू. रखा जा सकता है। यह उल्लेखनीय है कि हड़प्पा संस्कृति के काल विस्तार सीमाओं की तिथियाँ, कालीबंगन टीला II, तथाकथित प्राग्हड़प्पा के टीले I, से प्राप्त नमूने के आधार पर निश्चित की गयी है। कार्बन तिथियों के प्रत्यक्ष मूल्यांकन के आधार पर प्राग्हड़प्पा संस्कृति का अंतिम काल लगभग 1900 ई.पू. तक निर्धारित किया जा सकता है। अतः इस कठिन समस्या के दो समाधान हो सकते हैं : (i) हड़प्पा तथा प्राग्हड़प्पा संस्कृतियों के मध्य अति अल्प अंतर के फलस्वरूप कार्बन मापन विधि इसे पकड़ नहीं पाती और (ii) दोनों ही संस्कृतियाँ कुछ समय तक विभिन्न टीलों में या अन्य स्थलों में (जैसा पहले ही उल्लेख किया जा चुका है) समकालीन थीं। इसी आधार पर कालीबंगन टीला I के मकानों से हड़प्पा और प्राग्हड़प्पा मृद्भाण्डों का साथ-साथ मिलना भी समझा जा सकता है।

संक्षेप में हड़प्पा संस्कृति के केन्द्रीय क्षेत्र में काल विस्तार लगभग 2300-2000 ई. पू. है तो परिधीय क्षेत्र में लगभग 2200-1700 ई.पू. के बीच हड़प्पा संस्कृति के प्रारम्भ की यथार्थ तिथि निर्धारण के लिए मोहनजोदड़ो के प्रारम्भिक स्तरों के नमूनों का मापन करने

की आवश्यकता है। कार्बन-14, व कार्बन-12 के अनुपातों में यदि भूतकाल में कोई परिवर्तन होता रहा है तो तदनुसार सम्पूर्ण कालानुक्रमों को थोड़ा आगे-पीछे हटाया जा सकता है।

(IV) ताम्राश्मीय संस्कृतियों का कालानुक्रम

उत्तर पश्चिम इतर-हड़प्पा संस्कृतियाँ शीर्षक के अन्तर्गत हम पहले कुछ प्राक् व समकालीन हड़प्पा संस्कृतियाँ के कालानुक्रम के विषय में लिख चुके हैं। अब यहाँ पर कुछ उत्तरकालीन संस्कृतियों जैसे, कायथा, बनास, मालवा और जोर्वे आदि का वर्णन करेंगे। उनकी विवेचना यहाँ भारत के मध्य व दक्षिणी, उत्तर-पश्चिमी और पूर्वी क्षेत्रों के अन्तर्गत करेंगे।

(क) उत्तर-पश्चिम संस्कृतियाँ

उत्तर-पश्चिम में हड़प्पा संस्कृति के पटाक्षेप के थोड़ा पहले ही विविध संस्कृतियाँ प्रस्फुटित हुई। उनकी तिथि का निर्धारण करना कठिन है। फिर भी हम प्राप्त पुरातात्त्विक सामग्री का विश्लेषण करने का प्रयत्न करेंगे।

दक्षिणी बलूचिस्तान में शाही टूंप की कब्रें, एक कुल्ली संस्कृति के ग्राम के भग्नावशेषों के ऊपर अवस्थित मिली हैं। इन कब्रों के विशेषक हैं, पूर्ण शवाधान, हरित या गुलाबी रंगीन एक पतला मृद्भाण्ड, विविध प्रकार के कटोरे, काले से भूरे रंगों में चित्रित पट्ट, भाले का एक फल, मरगोल सुए, हत्थे के लिए छेद वाली कुल्हाड़ियाँ, खानेदार मोहरें आदि। ये सारे उपकरण ताम्र के होने के कारण महत्त्वपूर्ण हैं। ईरानी समरूपों के आधार पर, इन मोहरों की तिथि हिस्सार III-बी अथवा लगभग 2000 ई.पू. कही जा सकती है। कुल्ली संस्कृति की उपलब्ध तिथियाँ लगभग 2000 ई.पू. की हैं। इसके आधार पर शाही टूंप संस्कृति की तिथि, लगभग 2000 से 1900 ई.पू. के बीच रखनी पड़ेगी। मुंडीगाक में काल IV और V में ऐसी ही मोहरें प्रचलित थीं। हत्थे के लिए छेदवाली कुल्हाड़ी प्रायः आर्यों के प्रसार के साथ सम्बन्धित की जाती है। इस तरह की कुल्हाड़ियों की तिथि मायकोप और जर्सकाया में लगभग 1800 ई.पू. मानी गयी है। लेकिन मुंडीगाक के काल III के स्तर से मिलने के कारण इन्हें तिथि-निर्धारणार्थ प्रयुक्त नहीं किया गया। इसी प्रकार खानेदार मोहरें, मरगोल सुए और हत्थे के लिए छेदवाली कुल्हाड़ियाँ आभ्री, चांहूदड़ों और झूकर की परवर्ती संस्कृति वाले स्तरों से मिलती हैं। लेकिन शाही टूंप के मृद्भाण्ड हैं। पूर्ववर्ती हड़प्पा संस्कृतियों के स्तरों से इन झूकर स्तरों का एकाएक सम्बन्ध विच्छेद दृष्टिगोचर नहीं होता। ताम्र की खानेदार मोहरों व सौन्दर्य प्रसाधन पात्रों की तुलना, हिस्सार काल III से की जा सकती है।

चांहूदड़ो में झूकर संस्कृति के पश्चात् झांगर संस्कृति का अभ्युदय हुआ। धूसर काले चमकीले चित्रित मृद्भाण्ड झांगर संस्कृति की विशिष्टताएँ हैं। स्याल्क नेकरोपोलिस 'बी' के तीन खाने वाले पात्र झांकर संस्कृति के अनुरूप हैं। असीरियाई मोहर के आधार पर

गिर्शमान ने नेकरोपोलिस 'बी' को लगभग 900 ई.पू. तिथि दी है। उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर, झांगर संस्कृति का काल लगभग 900 ई.पू. या थोड़ा बाद का कहा जा सकता है।

दूसरी महत्त्वपूर्ण परवर्ती हड़प्पा संस्कृति का उदाहरण हड़प्पा की कब्रगाह 'एच' है। इसके दो स्तर हैं : प्रथम स्तर से सीधा शवाधान मिला है तो दूसरे से एक पात्र में अंत्येष्टि सामग्री के अवशेष। लाल ने कब्रगाह आर.37 और एच के बीच 2.1 से 2.7 मीटर मलवे की परत और आबादी के क्षेत्र में भी, संस्कृतियों के इन दोनों स्तरों के बीच 1 मीटर मलवे की परत को इंगित करते हुए दोनों संस्कृतियों के बीच व्यवधान सिद्ध किया है। परन्तु अल्विन के मतानुसार हड़प्पा स्तर और कब्रगाह एच स्तर के बीच अधिक कालान्तर नही है। वे टेपे गियान (संस्तर II-III) और जमशिदी II के समरूप मृद्भाण्डों के आधार पर कब्रगाह एच की तिथि 1750 और 1400 ई.पू. के मध्य स्थिर करते हैं।

सतह से प्राप्त अवशेषों में बहुत से ताम्र उपकरण हैं। पश्चिमी एशिया व कैस्पियन के क्षेत्र को समतुल्य उपकरणों के आधार पर इनका काल निर्धारण किया गया है। लेकिन इन अनिश्चित प्रमाणों के आधार पर तिथि-निर्धारण करना कठिन है। केवल मुगल घुंडई के कब्रों और सम्बन्धित स्थलों की स्याल्क नेकरोपोल 'बी' से सगोत्रता है। इसके आधार पर इनकी तिथि लगभग 900 ई.पू. मानी जा सकती है।

(ख) दक्षिणी और मध्य भारत की संस्कृतियाँ

इस उपशीर्षक के अन्तर्गत कायथा, बनास मालवा व जोर्वे आदि संस्कृतियों की तिथियों की विवेचना करेंगे। मुख्य स्थल आरेख 1 में दिखाये गये हैं।

ताम्र संस्कृतियों में जिला उज्जैन में स्थित कायथा एक महत्वपूर्ण स्थल है, इसका उत्खनन वाकणकर और बाद में धवलीकर और अंसारी ने किया। यहाँ पर कायथा, बनास व मालवा संस्कृतियों का परस्पर अनुक्रम स्पष्ट हो जाता है। छोटे-छोटे घर, एक विशिष्ट प्रकार के मृद्भाण्ड, ताम्र तथा उत्कृष्ट प्रस्तर-फलक उपकरणों का सीमित प्रयोग कायथा संस्कृति की विशिष्टताएँ हैं। काली पृष्ठभूमि पर बैंजनी रंग से चित्रित पतले व मजबूत मृद्भाण्ड यहाँ की विशेषता हैं। उत्कीर्ण व तिरछा अलंकरण इसकी अपनी विशिष्टता है। इन विशेषताओं का पश्चिमी एशिया से सादृश्य अभी तक स्थापित नहीं हो पाया है। अतः इनकी तिथि के निर्धारणार्थ हमें कार्बन तिथियों पर ही (आरेख-1) पूर्णतः निर्भर होना पड़ेगा।

(i) बनास (अहाड़)

बागोर संस्कृति के प्रथम चरण से ही लघु-अश्म मिले हैं। दूसरे चरण में ताम्र उपकरणों के साथ लघु-अश्म मिलते हैं। इस विशिष्टता के कारण इसको भी ताम्राश्मीय संस्कृतियों में माना जाता है। बागौर से कहीं अधिक विकसित संस्कृति थी बनास की। चाकनिर्मित उत्कृष्ट मृद्भाण्ड, धातु शोधन का ज्ञान, अच्छे मकान, लघु-अश्मों का अभाव

संस्कृति की विशिष्टताएँ हैं।

लेकिन बनास संस्कृति की मुख्य विशिष्टता उसके चित्रित काले-लाल मृद्भाण्ड हैं। संकालिया ने इंगित किया है कि रंगपुर काल III से प्राप्त अधिकांश मृद्भाण्डों का आकार अहाड़ के अनुरूप है। अहाड़ I-सी के कुछ कटोरों के समरूप नवदाटोली के चरण III में मिलते हैं। संकालिया के मतानुसार अहाड़ की सपीठ थालियों में विशेष रूप से हड़प्पा संस्कृति का प्रभाव परिलक्षित होता है। उन्होंने यहाँ से प्राप्त पोले तनेदार कटोरे और पशु सिर वाली हत्थों की पश्चिमी एशिया के शाहटेपे तथा हिस्सार के नमूनों से साम्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। तिथि-निर्धारण के लिए इन सामान्य समानताओं का उपयोग नहीं किया जा सकता।

स्तर विन्यास की दृष्टि से कायथा-उत्खनन से ज्ञात होता है कि बनास संस्कृति मालवा संस्कृति से पूर्ववर्ती है। इस निष्कर्ष की पुष्टि कार्बन तिथि से भी होती है।

(ii) मालवा और जोर्वे

1963 में संकालिया ने मालवा और जोर्वे संस्कृतियों का सिंहावलोकन कर अनेक ईरानी व भारतीय मृद्भाण्ड प्रकारों में सादृश्य स्थापित किया। उदाहरणार्थ टोंटीदार पात्र नवदाटोली काल III, दैमाबाद, गिलूंद, पाण्डु राजार ढीबी, चिरान्द और ओरियप से मिले हैं। शर्मा ने आन्ध्र प्रदेश में कुर्नूल जिले के कुछ स्थलों से प्राप्त इसी प्रकार के छोटी टोंटीवाले पात्रों का हवाला दिया है।

(iii) नवदाटोली

नवदाटोली के मृद्भाण्डों पर बाहर से जालीदार समचतुर्भुज व भीतर से मत्स मानव चित्र भी बने हैं। इन मृद्भाण्डों के समरूप लगभग 900 ई.पू. स्याल्क 'बी' और गियान काल I में प्रचलित थे। परन्तु लोहा और धूसर भाण्ड जो स्याल्क 'बी' और गियान I की विशिष्टताएँ हैं, मालवा व जोर्वे संस्कृतियों से नहीं मिले। वैसे भी नवदाटोली के अपने विशेषक उनके ईरानी समरूपों से कई सौ साल पुराने हैं। ईरानी सामग्री के अध्ययन से गुप्ता इस सादृश्य पर शंका व्यक्त करते हुए लिखते हैं, 'स्याल्क के टोंटीदार पात्रों की टोंटी न केवल काफी बड़ी है, बल्कि उन बर्तनों पर वक्राकार हत्थे भी हैं।'

यदि स्याल्क बी के लिए शेफर की दी हुई दूसरी सहस्राब्दी ई.पू. की तिथि मानी जाय, तभी इन भारतीय संस्कृतियों के ईरानी समरूपों की तिथियाँ उचित सिद्ध हो सकती हैं। लेकिन अब गिर्शमान ने असीरियाई प्रकार की बेलनाकार मोहर के आधार पर स्याल्क 'बी' की तिथि लगभग 900 ई.पू. निश्चित कर दी है। अजरबेजान में हसानलु के ऐसे ही स्तर की कार्बन तिथि 812 ± 130 ई. पूर्व है। इस सन्दर्भ में गौर्डन द्वारा चर्चित चाय की केतली की तुलना खुली नलीदार टोंटी वाले मृद्भाण्डों से नहीं की जा सकती क्योंकि सीरिया में ही इस प्रकार की चाय की केतली के प्रकारों की तिथि लगभग 2100-1700 ई.पू. के बीच मानी गयी है। 1969 में संकालिया ने ताम्राश्मीय पात्रों के पश्चिमी एशियाई समरूपों की एक

विस्तृत सूची प्रस्तुत की, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। आपने लगभग 5000 ई.पू. के स्तर से स्माईलाबाद (ईरान) व काराटेपे (सहरियार) और लगभग 3000 ई.पू. के स्याल्क से मिले टोंटीदार नली वाले पात्रों का भी उल्लेख किया है और सिद्ध किया है कि ये ईरानी रूप मालवा संस्कृति से कहीं पुराने हैं। नवदाटोली के प्रथम चरण से ही ठोस तने व चपटे आधार के कटोरे प्रचलित थे। वैसे खोखले तने के कटोरे भी मिले हैं। इन आकारों के कटोरे व चमकीले लाल और घटिया धूसर मृद्भाण्ड रंगपुर काल III में भी प्रचलित थे। राव के मतानुसार हड़प्पा की सपीठ थालियों का ह्रास तीन चरणों में तनेदार कटोरों में पूरा हुआ। खोखले तने का एक बर्तन कालीबंगन काल I तथा एक घटिया धूसर प्रकार अहाड़ से मिला है। ऐसे मृद्भाण्ड चांहूदड़ों में झूकर काल के स्तर से भी प्राप्त हुए हैं। नवदाटोली के मृद्भाण्ड आकारों की विवेचना करते हुए संकालिया लिखते हैं, 'यद्यपि पूर्वी ईरानी स्थलों के पात्रों के तने अपेक्षतः छोटे व खोखले हैं तो भी इन सारे ही चार या पाँच प्रकार के कुल्हड़ों की तुलना स्याल्क, गियान, हिस्सार काल II के आकारों से की जा सकती है। हिस्सार में, विशेषतः हिस्सार काल III-ए में, लम्बे व ठोस तने वाले कटोरे मिलते हैं, लेकिन I-बी और II-ए के कटोरों का रूप और अलंकरण तुलनात्मक दृष्टि से अधिक समीप है।' नवदाटोली व अहाड़ की अपेक्षा स्याल्क I.III तथा हिस्सार I.II का काल अधिक प्राचीन होने के कारण संकालिया, मालवा संस्कृति पर इन ईरानी स्थलों का प्रभाव अप्रत्यक्ष और साधारण प्रकार का बतलाते हैं। 1969 में संकालिया ने नवदाटोली से प्राप्त चपटे और खोखले दोनों प्रकार के सपीठ प्यालों के अधोभाग पर की गयी चित्रण का निकटतम सादृश्य आभ्री I और हिस्सार (काल नहीं दिया गया है) से किया है। वे लिखते हैं, 'इस प्रकार की विशिष्टता हड़प्पा संस्कृति से एकदम और रंगपुर सहित भारत की बहुत सी ताम्राश्मीय संस्कृतियों में नहीं मिलती।' थापड़ के मतानुसार खोखले वृत्तों में भरे बिन्दु चित्रित गोल प्यालों तथा कार्केमिश के प्रारम्भिक हिट्टाइट कालीन बर्तनों में साम्य है। 1971 में अग्रवाल ने नवदाटोली के कटोरों को मुंडीगाक के समरूपों से तथा लम्बे तने वाले कटोरों की तुलना मुंडीगाक के नतोदर किनारे वाले कटोरों से की है। इन दोनों ही आकारों की तिथि मुंडीगाक काल IV, लगभग 2200 ई.पू. है। यहाँ तक कि दोनों ही स्थलों के कटोरों पर ठोस त्रिकोणों का एकान्तर चित्रण एकदम एक सा है। मुंडीगाक के ये नमूने काल III लगभग 2600 ई. पू. के हैं। बहुत से पश्चिमी एशियाई स्थलों, विशेष रूप से हिस्सार काल III के पशुरूप पात्र जैसे प्रकार चंदोली व निवासा में भी मिले हैं। अधिकांश पश्चिमी एशियाई पात्रों का ऊध र्वस्थ (Vertical) मुँह है, लेकिन भारतीय पात्रों का एक ओर। संकालिया ने साँड की एक लघु-मृण्मूर्ति को लगभग 1475 ई. पूर्व के नूजी के मन्दिर से प्राप्त चक्र पर अंकित साँड के सदृश्य बताया है। स्याल्क नेकरोपोल बी (कब्रिस्तान) से प्राप्त पात्र का मुँह भी एक तरफ खुलता है। मुंडीगाक काल IV I से भी पशु-रूप पात्र मिले हैं। चंदोली से प्राप्त एक तिपाए कटोरे की तुलना गियान के नमूने से की जा सकती है।

संकालिया ने नृत्यरत मानव कृतियों वाले डिजाइन के समरूप, स्याल्क तथा चागर

बाजार आदि में पाये हैं। टोगाउ के चरण ए, मृद्भाण्ड पर भी एक प्रकार की मानवाकृतियाँ अंकित हैं। स्याल्क III तथा नवदाटोली से प्राप्त एक दूसरे का हाथ पकड़े आकृतियों के चित्र, संकालिया के अनुसार हूबहू एक से हैं। डी कार्डी ने दर्शाया है कि प्रसिद्ध सर्पिल डिजाइन (Pothook Spiral) का विकास टोगाउ की रूढ़िगत शैली में चित्रित मृग से हुआ। परवर्ती काल में ये डिजाइन लौंडो मृद्भाण्डों की विशिष्टता बन गये। संकालिया के मतानुसार आम्री काल I (लगभग 2800 ई.पू.) और नवदाटोली के ऐसे सर्पिल डिजाइनों के बीच भी साम्य है। परन्तु इस प्रकार के डिजाइन हड़प्पा मृद्भाण्डों पर नहीं पाये जाते। अन्य उल्लेखनीय अनुरूपता प्रकाश और दैमाबाद के तथा हिस्सार और स्याल्क III के बिन्दु चित्र दीर्घाकाल पशुओं के चित्रण में हैं। यह डिजाइन भी हड़प्पा संस्कृति में नहीं मिलता। चंदोली तथा निवासा के मृद्भाण्डों पर अंकित दौड़ते हुए कुत्तों के चित्रण की तुलना संकालिया ने गियान और बाकुन से प्राप्त डिजाइनों से की है।

(ग) अन्य तुलनात्मक विशेषक

संकालिया के मतानुसार निवासा से प्राप्त पकी मिट्टी की बनी एक मातृका की समरूपता हिस्सार काल III की प्रतिमाओं से है। नवदाटोली के रीढ़दार ताम्र फलक के टुकड़े तथा चंदोली की शृंगिकायुक्त कटार की तुलना कुछ पश्चिमी एशियाई उदाहरणों से की जा सकती है। अहाड़ और ट्रोय में प्राप्त मिट्टी के तर्कु चक्कर के उत्कीर्ण डिजाइनों में समानता है। नागदा से भी डिजाइन वाले ऐसे तर्कु चक्कर मिले हैं, यद्यपि संकलिया के मतानुसार वे एकमात्र अहाड़ में पाये जाते हैं।

गुप्ता ने बताया है कि ज्यादन्नेप्राव्स्की के अनुसार फरगना घाटी की चुस्त संस्कृति के मध्य सम्बन्ध था। जबकि श्काटको यहाँ की ताम्राश्मीय संस्कृतियों को शुद्ध भारतीय मानते हैं और कोई समानता इन संस्कृतियों में नहीं पाते। गुप्ता भी सामान्य समानताओं के आधार पर चुस्त और मालवा संस्कृतियों के बीच सादृश्य स्थापित करना गलत समझते हैं। गुप्ता के मतानुसार इन संस्कृतियों के बीच वैभिन्य अधिक है। दोनों की अंत्येष्टि प्रथाओं में महत्त्वपूर्ण अंतर है भारत में पात्र शवाधान व विस्तारित शवाधान प्रचलित थे, तो फरगना घाटी में मुड़े हुए शवाधान। चुस्त संस्कृति में किलेबन्दी थी, परन्तु मालवा संस्कृति में नहीं। डुलवर्जिन स्थल की कार्बन तिथि 2720±120 और 3050±120 वर्ष पुरानी ही हैं। स्पष्ट है कि यह संस्कृति बाद की थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि चुस्त संस्कृति भी भारतीय ताम्राश्मीय संस्कृतियों के कालानुक्रमण में सहायक सिद्ध नहीं होगी।

उपर्युक्त विस्तृत प्रमाण भारतीय ताम्राश्मीय संस्कृतियों पर विशेष रूप से मालवा संस्कृति पर ईरानी प्रभावों को स्पष्ट करते हैं। लेकिन ये प्रमाण इन संस्कृतियों के तिथि निर्धारण के लिए पर्याप्त नहीं हैं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि भारतीय ताम्राश्मीय संस्कृतियों व पश्चिमी ईरानी मृद्भाण्डों में काफी सादृश्य होते हुए भी अधिकतर प्रमाण काल और स्थान दोनों दृष्टियों से एक दूसरे से दूर हैं।

(घ) ताम्राश्मीय संस्कृतियों का आपेक्षिक कालानुक्रम

अब हम भारतीय संस्कृतियों के तुलनात्मक विश्लेषण के आधार पर उनका काल निर्धारण करने का प्रयत्न करेंगे।

काले-लाल चित्रित मृद्भाण्ड, रंगपुर (काल II से आगे), लोथल 'ए' और 'बी', सुरकोटडा I-सी, अहाड़ I-ए नवदाटोली प्रकाल I (काल III), नागदा I, एरण II-सी और III में परस्पर संबंध जोड़ने वाली कड़ी हैं। जालीदार त्रिकोण, वक्र रेखाएँ आदि रंगपुर तथा नवदाटोली में समान रूप से चित्रित हैं। अतः नवदाटोली III की तुलना रंगपुर II-सी और III से की जा सकती है। काले-लाल चित्रित मृद्भाण्ड गिलूंद के सभी स्तरों से मिलते हैं, जबकि नवदाटोली के केवल चरण (काल III में) से। नृत्य-चित्र और बिन्दु-अंकित पशु डिजाइन वाले दूधिया स्लिप वाले मृद्भाण्ड जहाँ गिलूँद की सबसे ऊपरी सतह से मिले हैं, वहाँ ये नवदाटोली के केवल प्रारम्भिक प्रकाल में ही सीमित है। अतः स्पष्ट है कि गिलूंद में बनास संस्कृति, नवदाटोली की अपेक्षा पूर्ववर्ती है।

मालवा मृद्भाण्डों का काल विस्तार व्यापक है। ये नवदाटोली के प्रकाल I से IV (काल III), नागदा I, बाहल IB, दैमाबाद प्रकाल II, चंदोली I, और प्रकाश I-ए काल में प्रचलित थे।

जोर्वे ,मृद्भाण्ड प्रकाश IB, नवदाटोली चरण III-IV, बाहर IB, निवासी II, सोन गाँव I, चंदौली, जोर्वे I ईमान गाँव II, अहाड़ I-बी और दैमाबाद III के काल स्तरों से मिले हैं। सर्वप्रथम प्रकाश के उत्खनन के स्तरीकरण से सिद्ध हुआ है कि जोर्वे मृद्भाण्ड, मालवा से बाद के हैं। इसी तथ्य की पुष्टि हम कालान्तर में दैमाबाद, बाहल तथा नवदाटोली उत्खननों से पाते हैं।

घटिया किस्म के काले-लाल तथा दूधिया स्लिप वाले मृद्भाण्ड मिलने के कारण, चंदौली नवदाटोली की अपेक्षा परवर्ती है। चन्दौली में जोर्वे मृद्भाण्ड (कुल के 37 प्रतिशत) की मालवा मृद्भाण्डों की अपेक्षा बहुलता है। निवासा में दूधिया स्लिप वाले मृद्भाण्डों के न मिलने से प्रतीत होता है कि यह स्थल चंदौली की अपेक्षा परवर्ती है। देव के मतानुसार 'चंदोली नवदाटोली के प्रारम्भिक प्रकाल से परवर्ती और संभवतः निवासा से थोड़ा पूर्ववर्ती हैं।'

रंगपुर IIC और III, प्रकाश II A, नवदाटोली प्रकाल IV (काल III), प्रकाश IB,

ताम्राश्मीय स्थलों की कार्बन तिथियाँ

स्थल	कार्बन तिथियाँ ई.पू. (अर्धायु 5730 वर्ष)	स्थल	कार्बन तिथियाँ ई.पू. (अर्धायु 5730 वर्ष)
अहाड़ (राजस्थान)	TF-31, 1270±110 TF-32, 1550±110 TF-34, 1725±140 TF-37, 1305±115	ईनामगाँव (महाराष्ट्र)	TF-923, 1025±170 TF-996, 1070±185 TF-922, 1345±100 TF-1085, 1440±110

स्थल	कार्बन तिथियाँ ई.पू. (अर्धायु 5730 वर्ष)	स्थल	कार्बन तिथियाँ ई.पू. (अर्धायु 5730 वर्ष)
	V-56, 1875±100		TF-924, 1370±200
	V-55, 1990±125		TF-1087, 1405±105
	V-54, 2000±100		TF-1086, 1535±155
	V-58, 2055±105		TF-1000, 1375±85
	V-57, 2145±100		TF-1001, 1565±95
			TF-1235, 1275±95
			TF-1330, 1225±105
बागौर (राजस्थान)	TF-1005, 2110±90	कायेथा (मध्यप्रदेश)	TF-776, 1605±115
	1006		TF-974, 1635±100
	TF-1009, 2765±105		TF-778, 1705±95
चन्दोली (महाराष्ट्र)	TF-43, 1040±105		TF-777, 1780±100
	TF-42, 1170±120		TF-780, 1835±100
	P-474, 1240±190		TF-779, 1840±110
	P-472, 1300±70		TF-781, 1880±105
	P-473, 1330±70		(डक्कन कालेज के उत्खनन से)
एरण (मध्य प्रदेश)	TF-326, 1040±110		
	TF-324, 1270±110		
	P-525, 1340±70		
	P-528, 1050±65		
	P-526, 1280±70		
	TF-330, 1365±100		
	TF-327, 1425±125		
	TF-329, 1445±110		
	TF-331, 1500±95		
कायथा (मध्य प्रदेश)	TF-679, 1300±135	निवासा (महाराष्ट्र)	TF-40, 1250±110
	TF-676, 1305±105		P-181, 1250±125
	TF-401, 1335±105		
	TF-402, 1380±100	सोनगांव (महाराष्ट्र)	TF-379, 1290±95
	TF-405, 1465±100		TF-383, 1330±100
	TF-397, 1500±100		TF-Z82, 1340±100
	TF-398 1675±100		TF-380, 1375±100
	TF-678, 1685±100		TF-384, 1565±110
	TF-399, 1675±100		
	TF-396, 1730±110	चिरान्द (बिहार)	TF-444, 715±105
	TF-680, 2015±100		TF-334, 845±125
			TF-1029, 1050±90
विक्रम विश्वविद्यालय के उत्खनन से			TF-445, 1650±110

स्थल	कार्बन तिथियाँ ई.पू. (अर्धायु 5730 वर्ष)	स्थल	कार्बन तिथियाँ ई.पू. (अर्धायु 5730 वर्ष)
मालवन (गुजरात)	TF-1084, 800±95	महिषदल (पश्चिम बंगाल)	TF-390, 885±100 TF-391, 1380±105 TF-392, 1385±110
नवदाटोली (मध्यप्रदेश)	P-205, 1445±100 TF-59, 1525±110 P-204, 1600±130 P-200, 1610±130 P-475, 1610±70	पांडुर राजार ढीबी (पश्चिमी बंगाल)	? 1012±120
नवदाटोली (मध्यप्रदेश)	P-201, 1645±130 P-202, 1660±130 P-476, 2300±70	प्रभास पाटन (गुजरात)	TF-1284, 1615±100 TF-1286, 1755±95 TF-1287, 2455±100

तालिका 2 : राजस्थान, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, बिहार, गुजरात और बंगाल की ताम्राश्मीय संस्कृतियों की कार्बन तिथियाँ

अहाड़ IC और बाहल I-बी से प्राप्त चमकीले लाल मृद्भाण्ड इनके परस्पर सम्बन्धों को इंगित करते हैं।

ताम्राश्मीय सांस्कृतियों के स्तरीकरण तथा कार्बन तिथियों के आधार पर, कालानुक्रम की दृष्टि से, सर्वप्रथम कायथा, द्वितीय बनास, तत्पश्चात् मालवा और अंत में जोर्वे संस्कृति आती हैं। मालवा संस्कृति के स्थल नवदाटोली (प्रकाल I) के पश्चात् नागदा, एरण, रंगपुर II-बी प्रकाश, जोर्वे, ईनाम गाँव I, चंदोली और सबसे अंत में निवासा इस कालानुक्रम से आते हैं। यद्यपि मालवा मृद्भाण्ड प्रकाश में प्रारम्भ से ही उपलब्ध हैं, लेकिन काल I-ए में च.ला. भाण्ड के भी मिलने से उपर्युक्त क्रम में इसका स्थान कुछ परवर्ती प्रतीत होता है।

संगनपल्ली (जिला कुरनूल) तथा अन्य कुछ स्थलों से नवाश्मीय अवशेषों के साथ चित्रित मृद्भाण्ड व चक्र मनके प्राप्त हुए हैं। राव के मतानुसार इस संस्कृति पर मालवा संस्कृति का प्रभाव है। संकालिया इस (कुरनूल की) संस्कृति में आरी से काटे गये किनारे वाली यशब की कुल्हाड़ी मिलने के आधार पर, इस संस्कृति पर पूर्वी (पांडु राजार धीबी) प्रभाव बतलाते हैं, और इसलिए इसकी तिथि लगभग 1000 ई.पू. निर्धारित करते हैं।

साली ने ताप्ती घाटी में स्थित सेवाल्दा से एक विशिष्ट प्रकार का लाल मृद्भाण्ड खोजा है, जिसकी पृष्ठभूमि के रंग कई प्रकार के हैं। हथियारों का चित्रण इसकी विशिष्टता है। सेवाल्दा तथा संगनपल्ली दोनों ही महत्त्वपूर्ण संस्कृतियाँ हैं। दोनों ही संस्कृतियों का कार्बन तिथिकरण होना बहुत आवश्यक है।

(ङ) ताम्राश्मीय संस्कृतियों की कार्बन तिथियाँ

ताम्राश्मीय संस्कृतियों की तिथियाँ आरेख 9 में अंकित हैं और तालिका 2 में दी गयी है।

कायथा से कई कार्बन तिथियाँ प्राप्त हैं। बाद के उत्खनन से ज्ञात तिथियों की आंतरिक संगत्ति के आधार पर हमने पूर्ववर्ती उत्खनन की संगत तिथियों पर भी विचार किया है। यदि TF-680, 2015±100 को कायथा संस्कृति का प्रारम्भ मानें तथा ऊपरी सतह से प्राप्त TF-780, 1835±100 ई.पू. और TF-779, 1840±110 ई.पू. के आधार पर इस संस्कृति का अंत लगभग 1800 ई.पू. माने, तो इस संस्कृति का काल-व्यापन लगभग 2000 से 1800 ई.पू. मान सकते हैं। संगत तिथियों के आधार पर TF-776,-777,-399 और .678 बनास संस्कृति का काल-विस्तार इस स्थल पर लगभग 1800 से 1600 ई.पू. कहा जा सकता है। बनास संस्कृति के पश्चात् आने वाली मालवा संस्कृति का काल-विस्तार TF-974,-398,-397,-402,-676 के आधार पर लगभग 1600 से 1300 ई.पू. रखा जा सकता है। अहाड़ की नौ कार्बन तिथियाँ हैं (तालिका 2, आरेख 9)। विक्टोरिया प्रयोगशाला की पाँच-तिथियों की त्रुटियों की औसत तिथि 1995±45 ई.पू. अर्थात् लगभग 2000 ई. पू. बैठती है। काल I-बी एक तिथि TF-34, 1725±140 ई.पू. है और काल I.C. की TF-31 ±1270±110 है। TF-31 की तिथि में एक मानक विचलन जोड़ा जाय तो अंतिम सीमा 1380 या 1400 ई.पू. निर्धारित होती है। बनास संस्कृति का कुल काल-विस्तार इस प्रकार लगभग 2000 से 1400 ई.पू. कहा जा सकता है।

नवदाटोली के काल III के प्रकालों की आठ कार्बन तिथियाँ उपलब्ध हैं। प्रकाल I की अधिकांश तिथियाँ 1600 ई.पू. के आसपास की हैं। यदि इसमें एक मानक विचलन को जोड़ दिया जाय तो मालवा संस्कृति के प्रारम्भ की अधिकतम तिथि लगभग 1700 ई.पू. होगी। प्रकाल IV की तिथि P-205, 1445±130 है। यदि बीच की तिथि को लें तो नवदाटोली की मालवा संस्कृति का काल विस्तार लगभग 1700 से 1450 ई.पू. के बीच माना जा सकता है। प्रकाल IV से जोर्वे संस्कृति का प्रादुर्भाव होने लगता है।

मध्य प्रदेश के महत्वपूर्ण स्थल एरण की तिथियाँ अधिक उतार-चढ़ाव दिखलाती हैं। तालिका 2, आरेख 9, TF.327, 329, और 331 की संगति पूर्ण तिथियों के अनुसार काल I की तिथि लगभग 1500 ई.पू. हैं। इस स्थल पर ताम्राश्मीय युग का अंत संभवतः लगभग 1000 ई.पू. (TF-326) हो गया।

पूना जिले में स्थित मालवा संस्कृति के स्थल ईनामगाँव से अनेक कार्बन तिथियाँ प्राप्त हैं (तालिका 2)। काल I का विस्तार लगभग 1500 से 1300 ई.पू. प्रतीत होता है। काल II जोर्वे संस्कृति को है। जिसका काल विस्तार लगभग 1300 से 800 ई.पू. तक है। निश्चित रूप से इससे अधिक कुछ कहने के पहले इस स्थल की पूर्ण उत्खनन रिपोर्ट का इंतजार करना होगा।

इसके अतिरिक्त सोनगाँव, निवासा और चन्दोली से जोर्वे संस्कृति का तिथि-मापन

किया गया। सोनगाँव की चार संगतिपूर्ण तिथियों (TF-379,-383,-382,-380) के अनुसार इस संस्कृति का काल-व्यापन इस स्थल पर लगभग 1400 से 1300 ई.पू. है। चंदोली से प्राप्त तिथियों (TF-43,-42 और P-474,-472,-473) के अनुसार इस संस्कृति की काल-सीमा इस स्थल पर लगभग 1300 से 1000 ई.पू. के बीच है। निवासा के दो नमूनों TF-40 तथा P-181 की तिथियाँ क्रमशः 1250±110 तथा 1250±125 ई.पू. हैं। अतः जोर्वे संस्कृति के पूर्ण काल-विस्तार को लगभग 1400 से 800 ई.पू. स्थित किया जा सकता है।

अल्चिन और जोशी ने गुजरात के एक स्थल मालवन का उत्खनन किया। यहाँ से केवल मात्र-तिथि TF-1084, 800±95 ई.पू. है। उत्खनकों ने प्राप्त स्तर की तुलना रंगपुर II-सी से की है। राव ने रंगपुर में इस चरण की तिथि लगभग 1000 ई.पू. निर्धारित की है।

(च) पूर्वी ताम्राश्मीय संस्कृतियाँ

प्राप्त सामग्री और चित्रित मृद्भाण्डों की अनुपस्थिति के आधार पर, वी.एन. मिश्रा ने अपने लेख में पूर्वी ताम्राश्मीय संस्कृतियों को दो भागों में विभाजित किया है। इस विभाजन का आधार है, काकेरिया तथा सोनपुर में सादे (अचित्रित) काले-लाल मृद्भाण्ड तथा चिरांद, महिषदल, पांडुर राजार ढीबी से चित्रित काले-लाल मृद्भाण्ड।

महिषदल और पांडुर राजार ढीबी पश्चिमी बंगाल के दो महत्त्वपूर्ण ताम्राश्मीय संस्कृतियों के स्थल हैं। महिषदल के काल I के मुख्य विशेषक नेगल और मिट्टी के झोपड़े, लघु अश्म, एक चपटी ताम्र कुल्हाड़ी, हड्डी के उपकरण, जले हुए चावल और विविध प्रकार के मृद्भाण्ड हैं। यहाँ चित्रित और सादे दोनों ही प्रकार के लाल मृद्भाण्ड प्रचलित थे। लेकिन काले-लाल मृद्भाण्ड ही यहाँ की मुख्य परम्परा है। प्राप्त अवशेषों की समानता पांडुर राजार ढीबी के काल II और III से है। टोंटीदार कटोरे, सपीठ थालियों और अंत्येष्टि विधियों से ज्ञात होता है कि महिषदल का महाराष्ट्र तथा मध्य भारतीय ताम्राश्मीय संस्कृतियों से सम्बन्ध रहा होगा। इन संस्कृतियों के तिथि-निर्धारणार्थ पुरातात्त्विक प्रमाण उपलब्ध न होने से, हमें पूर्ण रूप से कार्बन तिथियों पर ही निर्भर रहना होगा।

बिहार में चिरांद के काल II-ए से ताम्राश्मीय संस्कृति के अवशेष मिले हैं। उत्खनक वर्मा व सिन्हा के अनुसार काल I नवाश्मीय संस्कृति का है जबकि संकालिया इसे ताम्राश्मीय संस्कृति की प्रावस्था मानते हुए धातु के मिलने की आशा रखते हैं। संकालिया के अनुसार सभी मृद्भाण्ड चाकनिर्मित हैं, जबकि वर्मा अधिकांश मृद्भाण्डों को हस्तनिर्मित मानते हैं। संकालिया के विचार से प्राप्त पकी मिट्टी की प्रतिमा में और नवदाटोली तथा ईनामगाँव से प्राप्त प्रतिमाओं में समानता है। अध्याय 3 के अन्तर्गत हम चिरांदकाल का वर्णन कर चुके हैं। काले-लाल, लाल तथा स्याह स्लिप वाले मृद्भाण्ड और ताम्र उपकरण काल II की अन्य विशिष्टताएँ हैं। सपीठ थालियाँ एक प्रमुख बरतन है। बिना निश्चित आकार के उत्खनक ने

एक लघु शव-पेटिका (Sarcophagus) का सादृश्य पश्चिम से बतलाया है। पश्चिमी बंगाल व बिहार की ताम्राश्मीय संस्कृतियों के काले-लाल मृद्भाण्ड, काला स्लिप वाला मृद्भाण्ड, टोंटीदार कटोरे तथा सपीठ थालियाँ दोनों क्षेत्रों की संस्कृतियों की समानताओं को परिलक्षित करते हैं।

तालिका 2 में उल्लिखित कार्बन तिथियों के आधार पर, चिरांद का काल विस्तार लगभग 1800-1200 ई.पू. निर्धारित होता है। काल II-ए के तीन नमूनों, TF-444,-334 और -1029 (तालिका 2 आरेख 9) के मापने से इस संस्कृति का अधिकतम सीमा विस्तार लगभग 1200 से 800 ई.पू. निश्चित होता है। (TF-1029 की तिथि में एक मानक विचलन जोड़ने से उपर्युक्त काल-विस्तार प्राप्त हुआ)। काल II-बी से लोहा भी उपलब्ध हुआ। TF-336, 765±100 ई.पू. पूर्व (तालिका 7) के एकमात्र नमूने के आधार पर II-बी की तिथि लगभग 750 ई.पू. है।

महिषदल की चार कार्बन तिथियाँ उपलब्ध हैं। काल I के ताम्राश्मीय युग के तीन नमूने (TF-392,-391 और -390), इसका अधिकतम काल-विस्तार लगभग 1300 से 800 ई.पू. दर्शाते हैं। ये तिथियाँ आत्मसंगत अनुक्रम इंगित करती हैं। काल II में लोहा प्रयुक्त होने लगा था। इस काल की तिथि लगभग 750 ई.पू. (TF-330) है। संभवतः जादवपुर विश्वविद्यालय से प्राप्त, मात्र एक नमूने के आधार पर पांडुर राजार ढीबी ताम्रश्मीय काल की तिथि 1012±120 ई.पू. दी गयी है।

(IV) ताप-संदीप्तिक तिथियाँ

मुख्यतः दोआब क्षेत्र में, चित्रित धूसर तथा काले-लाल मृद्भाण्डों से पूर्व गेरुए मृद्भाण्ड प्रचलित थे। इनके विषय में बहुत मतभेद है। कुछ विद्वान गेरुए भाण्डों का सम्बन्ध ताम्र संचय (Copper Hoard) से तो अन्य सैंधव शरणार्थियों से जोड़ते हैं। कुछ विद्वान समझते हैं कि यह किसी एक संस्कृति का द्योतक न होकर अनेक गेरुए व लाल मृद्भाण्ड प्रयोग करने वाली संस्कृतियों का द्योतक है। अभी तक इस संस्कृति की कोई भी कार्बन तिथि उपलब्ध नहीं है।

आक्सफोर्ड पुरातत्त्व अनुसंधान प्रयोगशाला के डॉ. हक्सटेबल ने गेरुए मृद्भाण्डों की निम्नलिखित ताप-संदीप्तिक तिथियाँ भेजी हैं :-

स्थल	तिथि	
लाल किला	1800 ई.पूर्व	±10%
अतरंजी खेड़ा	1690 ई.पूर्व	
झिंझना	2070 ई.पूर्व	
नसीरपुर	1340 ई.पूर्व	

उपर्युक्त सभी स्थल दोआब (उत्तर प्रदेश) में हैं।

अध्याय 4 संदर्भिका

इस अध्याय विषयक मुख्य ग्रन्थ

D.P. Agarwal : The Copper Bronze Age in India, 1971 (Delhi).

D.P. Agarwal and Sheela Kusumgar. : Prehistoric Chronology and Radiocarbon Dating in India 1973 (Delhi).

D.P. Agarwal and A. Ghosh (Eds.) : Radiocarbon and Indian Archaeology, 1973 (Bombay).

B.&F.R. Allchin : Birth of Indian Civilisation, 1968 (Harmondsworth)

J.M. Casal : Fouilles de Mundigak, 1961 (Paris).

J.M. Casal : Fouilles de Amri, 1964 (Paris).

J.M. Casal : La Civilisation de I'Indus et see Enigmes, 1969 (Paris).

W.A. Fairservis : Excavation in the Quetta Valley, West Pakistan, 1956 (New York)

W.A. Fairservis : Archaeological Survey in the Zhob and Loralai Districts, West Pakistan, 1959. (New York).

D.H. Gordon : The Prehistoric Background of Indian Culture, 1960 (Bombay).

D. Mundal : Radiocarbon dates and Indian Archaeology 1972 (Allahabad).

V.N. Misra and M.S. Mate (eds.) : Indai Prehistory : 1964, 1965 (Poon).

S. Piggott : Prehistoric India, 1961 (Hormondsworth).

H.D. Sankalia : Prehistory and Protohistory in India and Pakistan, 1962 (Bombay).

H.D. Sankalia, B. Subba Rao and S.B. Deo : Excavation at Maheshwar and Navadatoli : 1952-53, 1958 (Poon).

H.D. Sankalia, S.B. Deo and Z.D. Ansari : From History to Prehistory at Nevasa, 1960 (Poona)

H.D. Sankalia, S.B. Deo and Z.D. Ansari : Excavatin at Ahar (Tambavati), 1969 (Poona).

H.D. Sankalia, S.B. Deo and Z.D. Ansari : Chalcolithic Navdatoli (Excavation at Navdatoli : 1957-59), 1971 (Poona, Baroda)

R.E.M. Wheeler : The Indus Civilisation, 1968 (Cambridge).

इस अध्याय विषयक मुख्य लेख पाकिस्तान पुरातत्त्व पर

F.A. Khan : Pakistan Archaeology, Vol. 2, 1965.

कालीबंगन व सैंधव संस्कृति के कालानुक्रम पर

B.B. Lal and B.K. Thapar : Cultural Forum, Vol. IX, No. 4, P. 78-88, 1967.

खानेदार कुटी-माडलों पर

F.A. Khan : Ancient Pakistan, Vol. I, P. 51, 1964

मोहरों पर

B. Buchanan : Archaeology, Vol. 20, P. 107, 1967.
T.C. Bibby : Antiquity, Vol. 32, P. 243, 1958.
C.J. Gadda : Proc. of British Academy, Vol. 18, P. 191, 1932.
P.V. Glob and T.C. Bibby : Scientific American, Vol. 203, P. 62, 1960.
S.R. Rao : Antiquity, Vol. 37, P. 96, 1963.

अन्य ताम्राश्मीय संस्कृतियों पर

M.K. Dhavalikar : World Archaeology, Vol. 2, No. 2, P. 337-346, 1971.
K.N. Dikshit : Bull of the National Museum, No. 2, P. 21-28, 1971
J.P. Joshi : The Estern Anthropologist, Vol. XV, No. 3, P. 2-5, 1963.
H.D. Sankalia : Antibus Asiae, Vol. 26, No. 2, P. 322, 80, 1963.
H.D. Sankalia : Indica, Vol. 6, No. 2, P. 59, 80, 1969.
B.K. Thapar : Ancient India, Nos. 20 and 21, P. 5-167, 1964-65.

उत्तरी व पूर्वी भारत की पुरैतिहासिक संस्कृतियों पर

D.P. Agarwal : Asian Perpectives, Vol. XII 1971.
S.P. Gupta : Jour. Bihar Res. Soc., Vol. 51, P. 1-7, 1965.
B.B. Lal : Jour. Bihar Res. Soc., Vol. 51, P. 1-7, 1965.
B.B. Lal : American Anthropologist, Vol. 70, No. 5, P. 857-863, 1968.
V.N. Mishra : The Eastern Anthropologist, Vol. 23, No. 3, P. 243-257, 1970

✪✪✪

अध्याय 5

लौहकालीन संस्कृतियों का कालानुक्रम

पुरैतिहासिक व ऐतिहासिक काल के बीच के समय में, लौह-तकनीक के प्रादुर्भाव और प्रयोग ने अतिरिक्त उत्पादन द्वारा समाज में चौमुखी विकास का मार्ग खोल दिया। लौह अयस्कों की बहुलता के बिना, केवल तक्नीक का ज्ञान ही पर्याप्त नहीं। ताम्र की अपेक्षा लौह की विशिष्टता उसकी कठोरता के कारण नहीं बल्कि प्रचुरता के कारण थी। हिट्टाइट साम्राज्य की शक्ति का आधार लौह धातुकर्म पर एकाधिकार था। उसी प्रकार मगध साम्राज्य की शक्ति का स्रोत राज्य द्वारा संचालित खानें तथा अयस्कों का शोधन तथा लौह व्यापार पर एकाधिकार भी था।

लगभग 1200 ई.पू. हिट्टाइट साम्राज्य के टूटते ही लौह तकनीक बड़ी तेजी से पश्चिमी एशिया में फैल गयी। इस उपमहाद्वीप के उत्तर पश्चिम में लगभग 1000 ई.पू. में अल्प मात्रा में लोहा मिला है। लेकिन उत्तर भारत में इसके पूर्ण प्रभाव को हम 600-500 ई.पू. में ही देखते हैं। दक्षिण भारत में लोहे का प्रादुर्भाव काफी पूर्ववर्ती लगता है। नीचे हम लौह तकनीक के प्रसारण तथा काल-निर्धारण पर प्रकाश डालेंगे। सर्वप्रथम उत्तरी-पश्चिमी पर, फिर दोआब पर; अन्त में दक्षिणी क्षेत्र के उन्हीं स्थलों को लेंगे जिनके प्रमाण तिथि-निर्धारण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

(I) उत्तरी-पश्चिमी क्षेत्र

(क) स्वात घाटी

स्टाकुल के नेतृत्व में इटली के पुरातत्त्ववेत्ताओं तथा दानी ने स्वात तथा बाजौर घाटी के अनेक क्षेत्रों का उत्खनन किया। यहाँ से अधिकांशतः शवाधान तथा अंत्येष्टि सामग्री उपलब्ध हुई। इसके आधार पर इताल्वी विद्वानों (दानी की तिथियों के विपरीत) ने इन्हें तीन कालों, (I पुरातन, II मध्य, तथा III अर्वाचीन) में बाँटा। इन कालों का उन्होंने गालीगाई अनुक्रम से निम्नलिखित सम्बन्ध स्थापित किया है :-

I काल पुरातन	=	V काल
II काल मध्ययुग	=	VI काल
III काल अर्वाचीन	=	VII काल

इस क्षेत्र में गंधार शवाधान संस्कृति के मुख्य स्थल लोएवा, तीमारगढ़, बुटकारा, काटेलाई और गालीगाई हैं। स्टाकुल के मतानुसार चारसद्दा के सबसे प्रारम्भिक स्तर की तुलना भी गालीगाई के काल V से की जा सकती है। इस काल के कब्रें खड़े पत्थरों व फर्श की बनी हैं। समकोण इमारतें, कुएँ, हस्तनिर्मित मृद्भाण्ड व मुख्यतः ताम्र (व बहुत कम

लौह) उपकरण भी मिले हैं। लोहे का मिलना स्टाकुल अपवाद समझते हैं। इस काल में शवाधानों की अपेक्षा मुर्दे जलाये जाते थे। उनके अनुसार इस काल की तीमारगढ़ कब्रें हैं : नं0 102, 104, 142, 149, 192, 197। कब्र नं. 101 के सामान का काल V निर्धारित किया गया है। स्टाकुल ने उस काल की समानता हसानलू लौह-युग के काल I प्रकाल 5 (लगभग 1300-1000 ई.पू.) और गालीगाई काल V से प्राप्त घुंडीदार पीठवाले धूसर भाण्ड से की तथा काल VI की समानता हसानलू IV से की है। इस काल की बस्ती तथा कब्रें काल V के सदृश हैं। लेकिन इस काल में मुर्दों को जलाने की अपेक्षा उन्हें दफनाने की प्रथा अधिक प्रचलित थी। विविध प्रकार के चाकनिर्मित उत्कृष्ट धूसर मृद्भाण्ड प्रचलित थे, जिन पर मुख्यतः ज्यामितिक डिजाइन उत्कीर्ण थे। इस काल से धातुओं में ताम्र ही मिला है। लोहा केवल चाकनिर्मित अलंकृत लाल मृद्भाण्डों के साथ काल VII से मिला। इस काल की अन्य विशेषताएँ हैं : मानव मृण्मूर्तियाँ व काफी मात्रा में लौह उपकरण। स्टाकुल इस काल की तुलना हसानलू II-ए और दीर, बुनेर और चितराल की कब्रों से करते हैं। इस प्रकार हसानलू के आधार पर काल VII का तिथि-निर्धारण लगभग 500-400 ई.पू. निर्धारित होता है।

यद्यपि स्वात घाटी की बहुत सी कार्बन तिथियाँ (तालिका-3) प्राप्त हैं, यहाँ हम केवल उन्हीं तिथियों को लेंगे जो गालीगाई काल V तथा उसके बाद के काल की हैं। लौह के उद्भव की तिथि निर्धारणार्थ, लोएबा I और तीमारगढ़ कब्रों की पाँच कार्बन तिथियाँ प्राप्त हैं। कब्र नं. 101 की अंत्येष्टि सामग्री के आधार पर स्टाकुल इसे काल V की बताते हैं। वास्तव में इस कब्र के प्रथम शवाधान में पूर्ण शव था, जो कि बाद के आंशिक शवाधान द्वारा विक्षप्त हो गया। इसकी दो तिथियाँ उपलब्ध हैं। प्रारम्भिक शवाधान की तिथि 1530 ई.पू. व वाद की कब्र की 940 ई.पू. है। लोएबा I की तीन तिथियाँ BM 195,-196 और R.474 हैं। इन पाँच तिथियों में से तीन लगभग 100 ई.पू. के आसपास बैठती हैं। अतः हम स्वात घाटी

स्वात क्षेत्र के स्थलों की कार्बन तिथियाँ

स्थल		कार्बन तिथियाँ ई.पू. अर्धायु 5739 वर्ष			गालीगाई अनुक्रम पर आधारित
गालीगाई	17	R-379,	2422±55	काल I	नवाश्मीय
		R-379a,	2355±70	काल I	
		R-380,	2376±140	काल I	
गालीगाई	18	R-378a,	1923±55	काल II	सैंधव सादृश्यता
		R-377a,	1608±50	काल III	बुर्जाहोम I
बुट कारा		R-194,	547±41	काल IV	सादृश्यता
लोएबा	IT-28	R-276,	583±52	काल IV	
	T-87	R-278,	501±52	काल IV	बुर्जाहोम II
कोटलाई	I-39	R-279,	233±46	काल IV	सादृश्यता

स्थल		कार्बन तिथियाँ ई.पू. अर्धायु 5739 वर्ष		गालीगाई अनुक्रम पर आधारित
लोएबा	I,T-54	BM-195,	1120±154 काल V	न्यून मात्रा में लोहा
लोएबा	T-61	BM-196,	985±1[illegible]4 काल V	
तीमारगढ़ कब्र कब्रगाह	101,	?	1531±62 काल V	
		?	940±62 काल V	
लोएबान्न	I,T-21	R-474,	510±72	अनिश्चित सांस्कृतिक कालानुक्रम
कोटलाई	I,T-48	R-477,	1006±62	
कोटलाई	T-48	R-477a,	872±52	
कोटलाई	T-64	R-476,	1294±154	
काटेलाई	T-39	R-479,	367±52	
बुरामा	I,5A	R-195,	440±46	
बुरामा	8	R-196,	712±83	

तालिका 3 : स्वात घाटी तथा बाजौर क्षेत्र के नवाश्मीय तथा उत्तरकालीन स्थलों की कार्बन तिथियाँ

में लौह के उद्भव की तिथि इसी काल में मानते हैं। ईरान के प्रारम्भिक स्थलों के लौह युग की तिथि (1200-1000 ई.पू.) से यह तिथि ठीक बैठती है। परन्तु यह कार्बन तिथियाँ काल V में लौह उपकरणों के प्रथम आगमन को ही निर्धारित करती हैं। अतः स्टाकुल काल VII (लगभग 500-400 ई.पू. को ही पूर्ण विकसित लौह युग मानता है। इस मत के विपरीत दानी कहते हैं कि चूँकि टुक्सी ने इन्हें अश्वकायन-अस्सकानोइ का शवाधान माना, सभी इटालवी पुराविद इनकी तिथि चौथी शताब्दी ई.पू. तक लाने का प्रयास करते हैं। वे स्टाकुल की चारसद्दा की सामग्री से तुलना पर शंका व्यक्त करते हुए कहते हैं कि विभिन्न संस्कृतियों की सामग्री को बेतरतीव तुलना करने से समस्या और उलझ जाती है जैसा कि इस समस्या के साथ हुआ।

दानी ने तीमारगढ़ लौह युग को दो कालों III और IV में बाँटा है। काल IV की विशेषताएँ हैं - विविध प्रकार के शवाधान, लौह उपकरण, मानव लघु मृण्मूर्तियाँ, लाल और धूसर दोनों प्रकार के मृद्भाण्ड। वे काल IV को (स्टाकुल के) गालीगाई काल III के समकक्ष रखते हैं। यद्यपि स्वात में लोहा अल्प मात्रा में मिला, तीमारगढ़ काल III में अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित हो गया था। दानी इस काल की तुलना स्टाकुल के काल IV से करते हैं जिसकी तिथि 940±62 ई.पू. है। इस आधार पर दानी का काल IV गालीगाई के काल VIII के समतुल्य हुआ।

इस स्तर पर, लोह के उपकरणों की संख्या तथा उनके आर्थिक महत्त्व की बहस को

छोड़ हम संक्षेप में कह सकते हैं कि इस क्षेत्र में लोहे का उद्भव लगभग 1000 ई.पू. हुआ।

(ख) बलूचिस्तान

स्वात के दक्षिण में बलूचिस्तान के अनेक स्थलों से स्टाइन तथा मोकलन को संगोरा शवाधान मिले। मुगल घुंडई के संगोरा शवाधान के साथ पत्ते के आकार के छोटे, नुकीले, तिकोने, कटीले बाणाग्र, कटार और चाकू मिले। जीनवरी से एक मोटा, लोहे का मत्स्य काँटा मिला। इसी समूह के अन्य स्थल जांगीयान और नसीराबाद हैं। इन संगोरा शवाधानों के विशेषक हैं - टोंटीदार और हत्थेदार सुराही, त्रिभागी बाणाग्र और हस्तनिर्मित मृद्भाण्ड। लौंडो मृद्भाण्डों के समान इन भाण्डों पर सर्किल या पास रूप के डिजाइन बने हैं जिनकी संकालिया के आभ्री तथा टोगाउ के प्रारम्भिक काल के डिजाइनों से तुलना की है। अल्चिन के विचार से यह डिजाइन एक ऐसा काकेशियन प्रभाव है, जिसे आर्यों के साथ जोड़ा जा सकता है। बनर्जी हड़प्पा संस्कृति के विजेताओं की संस्कृति को इस प्रकार के हीन उत्तराधिकारियों के अवशेषों को मानने के विरुद्ध हैं। स्याल्क बी से सादृश्य के आधार पर पिगट इन शवाधानों का काल लगभग 1100-1000 ई.पू. निर्धारित करते हैं, बनर्जी लगभग 800 ई.पू. व अल्चिन लगभग 1100 से 750 ई.पू. के बीच। स्याल्क 'बी' कालानुक्रम के पुनः सिंहावलोकन के आधार पर गिर्शमान, इसे लगभग 900 ई.पू. की तिथि देते हैं। हमारे मतानुसार इन संगोरा शवाधानों की तिथि स्याल्क B से कुछ बाद की, लगभग 800 ई.पू. है। अभी तक इनकी कोई भी कार्बन तिथि प्राप्त नहीं हुई।

पिराक दंब की विशिष्टताएँ हैं : दूधिया या पाण्डु स्लिप पर द्विरंगी चित्रण, तिरछे, अनेक प्रकार के त्रिभुज, जटिल जालीदार डिजाइन का अलंकरण। अधिकांश सादे मृद्भाण्ड हस्तनिर्मित हैं। राइक्स इसकी तुलना सामार्रा के स्तर (ईराक), निनेवेह ॥ और अपीचियाह से करते हुए इस संस्कृति की तिथि लगभग 5000 ई.पू. बताते हैं। अधिकांश लोग इतनी पूर्ववर्ती तिथि पर शंका व्यक्त करते हैं। यद्यपि डेल्स इसके मृद्भाण्डों में पूर्ववर्ती छाप देखते हैं तो भी वह इसे अपने चरण डी के अन्तर्गत ही रखते हैं। कजाल इसका काल 1000 ई. पू. से पूर्ववर्ती नहीं समझते। इसके ऊपरी स्तरों से लौह उपकरण मिले हैं।

हमने पिराक के ऊपर स्तरों के तीन नमूनों को मापा (तालिका 7) जो क़जाल के अनुसार प्रथम सहस्राब्दी के हैं। इनकी तीन सुसंगत कार्बन तिथियाँ (TF-861-1108 और -1109) हैं। इनकी औसत तिथि लगभग 800 ई.पू. थी, जो कि कजाल के अनुमान को पुष्ट करती है।

(II) उत्तरी व पूर्वी भारत

इसी शीर्षक के अन्तर्गत हम उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल की लौह संस्कृतियों की विवेचना करेंगे। पश्चिमी दोआब में लोहा चि.धू. मृद्भाण्ड के साथ और बिहार तथा बंगाल में काले-लाल मृद्भाण्ड के साथ सर्वप्रथम प्राप्त हुआ। पश्चिमी एशिया से इनके कोई भी पुरातात्त्विक समतुल्य प्रमाण नहीं मिले। अतः हमारी विवेचना स्तरविन्यास तथा साहित्यिक तथ्यों पर आधारित है।

(क) चि.धू. मृद्भाण्ड संस्कृति का कालानुक्रम

लाल के मतानुसार हस्तिनापुर में काल III पर्याप्त लम्बे अन्तराल के बाद आया। इस अन्तराल काल में चि.धू. मृद्भाण्ड पूर्णतः विलुप्त हो गया तथा एन.बी.पी. प्रचलित हो गयी। साथ ही सादे धूसर मृद्भाण्ड का ह्रास भी शुरू हुआ। कच्ची मिट्टी की ईंटों के स्थान पर पक्की मिट्टी की ईंटें प्रयुक्त होने लगीं तथा लौह के साथ मुद्रा का चलन भी हुआ। अतः इन सब परिवर्तनों के लिए लगभग दो सौ साल लगे होंगे। लाल के अनुसार चि.धू. मृद्भाण्ड का अन्त हस्तिनापुर में लगभग 800 ई.पू. हुआ और एन.बी.पी. का प्रारम्भ लगभग 600 ई.पू.। काल III के 2.1 मीटर आवासी निक्षेप को 300 साल देकर चि.धू. मृद्भाण्ड के प्रादुर्भाव की तिथि लाल, लगभग 1100 ई.पू. निर्धारित करते हैं।

तिथि-निर्धारण में चि.धू. मृद्भाण्ड और एन.बी.पी. के साथ मिलने वाले लाल भाण्डों के आकारों का अध्ययन भी महत्त्वपूर्ण है, वस्तुतः समय के साथ लाल सादे भाण्ड के आकार में चि.धू. भाण्ड केवल 3-10 प्रतिशत तथा हस्तिनापुर में भी परिमाण की दृष्टि से अधिक नहीं मिले जबकि काल III से एन.बी.पी. के केवल 101 ही ठीकरे मिले।

लाल ने चि.धू. मृद्भाण्ड को संभवतः हड़प्पा संस्कृति के अन्त तक पहुँचाने के लिए प्रत्येक अन्तराल को एक लम्बा समय दिया, जिस पर गौर्डन तथा व्हीलर दोनों ने शंका व्यक्त की है। गौर्डन काल IV की तिथि 50 ई.पू. से 400 ई. के बीच रखते है तथा एन.बी.पी. कालानुक्रम अधिकतम 400 ई.पू. के बीच रखते हैं गौर्डन चि.धू. मृद्भाण्ड की 700 और एन.बी.पी. के प्रारम्भ की 350 ई.पू. तिथि निर्धारित करते हैं। व्हीलर के विचार से यदि गंगा की घाटी में एन.बी.पी. को पाँचवी सदी ई.पू. रखा जाय तो चि.धू. भाण्ड का प्रारम्भ आठवीं ई.पू. निर्धारित किया जा सकता है।

लाल ने निम्न आधार पर चि.धू. मृद्भाण्ड का तिथि-निर्धारण किया था।

(i) हस्तिनापुर की बाढ़ को महाभारत की घटनाओं से सम्बन्धित करना।

(ii) चि.धू. मृद्भाण्ड स्तर से लोहे का न मिलना।

(iii) चि.धू. मृद्भाण्ड तथा एन.बी.पी. के मध्य का अन्तराल।

(iv) एन.बी.पी. की प्रारम्भिक पूर्ववर्ती तिथि।

हस्तिनापुर में इस संस्कृति को महाभारत की घटनाओं से जोड़ना इस समय तक विवादास्पद ही है। टंडन को आलमगीर से, गौड़ को अतरंजीखेड़ा तथा लाल और पांडे को अपने ही बाद के उत्खनन से हस्तिनापुर से चि.धू. भाण्ड स्तरों से लोहा प्राप्त हुआ। अतः अब सर्वमान्य है कि चि.धू. भाण्ड एक लौहयुगीन संस्कृति थी।

हड़प्पा तथा चि.धू. भाण्ड के मध्य एक लम्बा अन्तराल है। काले-लाल भाण्ड उत्तर प्रदेश में अभी भी एक पहेली है। लेकिन गौड़ द्वारा अतरंजीखेड़ा के उत्खनन से महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आया कि एक विशिष्ट प्रकार के काले-लाल भाण्ड ने चि.धू. भाण्ड का स्थान ले लिया। चि.धू. भाण्ड के पश्चात् एक बड़ी बाढ़ के निशान मिलते हैं। हस्तिनापुर के अन्त की कहानी इससे सटीक बैठती है। लाल ने पुराणिक तथ्यों के आधार पर कहा कि जब

हस्तिनापुर को गंगा बहा ले गयी तो निचक्षु ने इसे त्याग दिया और कौशाम्बी जाकर बस गये। यहाँ पर इस बाढ़ के प्रकोप के बाद एन.बी.पी. का काल प्रारम्भ होता है जबकि अन्य स्थलों पर जैसे अतरंजीखेड़ा, श्रावस्ती आदि में चि.धू. भाण्ड और एन.बी.पी. की भाण्ड परम्परा के मध्य निरन्तरता मिलती है। अतः हस्तिनापुर के अन्तराल को केवल स्थानीय ही समझना चाहिए। इसी सिलसिले में हम चि.धू. भाण्ड तथा एन.बी.पी. केन्द्रीय तथा परिधीय क्षेत्रों तथा सम्बन्धित लाल प्रकार के भाण्डों की विवेचना करेंगे।

चि.धू. भाण्ड एक विस्तृत क्षेत्र में सिन्ध के लखियापीर से गिलूँद तक और कन्नौज रोपण तक मिला है। दूसरी ओर एन.बी.पी. दक्षिण में ब्रह्मपुरी से लेकर उत्तर में रोपण तक, पश्चिम में प्रभास पाटन से पूर्व में बानगढ़ ओर चन्द्रकेतुगढ़ तक। अतः कहा जा सकता है कि चि.धू. भाण्ड का विस्तार मुख्यतः उत्तर प्रदेश तथा पंजाब में था, तो एन.बी.पी. का संभवतः बिहार में। बिहार के लौह अयस्कों का विस्तृत उपयोग तथा एन.बी.पी. का प्रसार संभवतः सम्बन्धित था। इस सन्दर्भ में एन.बी.पी. की विशिष्ट प्रकार की लौह सदृश कांचाभ स्लिप लौह सम्बन्ध की सूचक सी लगती है।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर निम्नलिखित संभावनाएँ उभरती हैं –

(i) दोआब के मूलभूत लाल भाण्ड क्षेत्र में चि.धू. ने पश्चिम से और एन.बी.पी. भाण्ड ने पूर्व से अतिक्रमण किया।

(ii) कुछ विशिष्ट लाल भाण्डों के आकार पश्चिम में चि.धू. भाण्ड के साथ और पूर्व में एन.बी.पी. भाण्डों के साथ मिलते हैं। यह तथ्य उनके बीच समकालीनता दर्शाता है और साथ ही चि.धू. भाण्ड का प्रारम्भ पूर्ववर्ती होना भी।

(iii) जिस क्षेत्र में चि.धू. भाण्ड और एन.बी.पी. साथ मिलते हैं वहाँ पर एन.बी.पी. चि.धू. भाण्ड के बाद आती हैं। यह तब संभव हुआ जब दोआब के जंगल साफ हो चुके थे और कोई पारिस्थितिकीय व्यवधान न था।

(iv) राजघाट, वैशाली और कौशाम्बी का घटिया व अनगढ़ चि.धू. भाण्ड पश्चिमी क्षेत्रों की अपेक्षा पूर्ववर्ती है।

(v) पूर्व के अपने समकक्ष भाण्डों की अपेक्षा पश्चिम और दक्षिण के एन.बी.पी. काल परवर्ती है। इसकी पुष्टि पश्चिम में एन.बी.पी. के साथ पूर्व के एन.बी.पी. परवर्ती लाल भाण्डों के मिलने से होती है।

(vi) यदि तिलोराकोट (नैपाल), श्रावस्ती तथा कन्नौज के मध्य सीधी रेखा खींची जाय तो यह चि.धू. भाण्ड तथा एन.बी.पी. संस्कृतियों को दो विशिष्ट क्षेत्रों में विभाजित करेगी।

सम्पूर्ण भाण्ड परिमाण में चि.धू. भाण्ड तथा एन.बी.पी. की मात्रा बहुत कम है। यह इस बात का द्योतक है कि ये भाण्ड एक प्रकार शाही पात्र (deluxe ware) थे। पूरी सांस्कृतिक सज्जा का अध्ययन आवश्यक है, जो पूरे क्षेत्र तक पहुँचे।

हस्तिनापुर में नासपाती के आकार के पात्र (अहिच्छत्र 10A प्रकार), किनारेदार

(Carinated) हांडी, छोटे कटोरे वाले लाल मृद्भाण्ड हस्तिनापुर, अहिच्छत्र तथा प्रकाश में एन.बी.पी. के साथ मिले। लेकिन यही आकार श्रावस्ती तथा राजघाट में उत्तर कालीन एन.बी.पी. के साथ हैं जबकि हस्तिनापुर काल II के लाल भाण्ड के आकार श्रावस्ती में एन. बी.पी. भाण्ड के साथ, व राजगीर और वैशाली में भी मिले हैं। सिन्हा के मतानुसार लहरदार कटोरे इस बात की पुष्टि करते हैं कि चि.धू. भाण्ड काली स्लिप वाले भाण्ड और एन.बी.पी. आधारभूत रचना की दृष्टि से एक ही परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस दृष्टि से काल का अन्तराल महत्त्वपूर्ण नहीं रहता। लेकिन निम्नलिखित तथ्य इस मत के विपरीत पड़ते हैं। (i) मूलभूत रूप से चि.धू. भाण्ड और एन.बी.पी. के वितरण क्षेत्र भिन्न हैं; (ii) चि.धू. भाण्ड पर विशिष्ट चित्रण है; (iii) चि.धू. भाण्ड के निर्माण में विशिष्ट प्रकार का धूसर रंग देने के लिए ताप व हवा को नियन्त्रित किया गया; (iv) एन.बी.पी. भाण्ड में विशिष्ट प्रकार की कांचाभ स्लिप है। दोनों भाण्डों में रचना की समानता इन भाण्डों में दोआब की समान जलोढक मिट्टी के प्रयोग के कारण है। अतः हस्तिनापुर में चि.धू. भाण्ड और एन.बी.पी. का अल्पकालीन अनुक्रमण आंशिक रूप से सही हो सकता है। यदि वितरण क्षेत्रों को भी ध्यान में रखा जाय तो इन दो भाण्डों को कुछ सदियों तक समकालीन माना जा सकता है।

लौह प्रयोग, आंशिक रूप से एन.बी.पी. समकालीनता तथा दोआब में नागरीकरण के प्रारम्भिक चरण में मिलने के कारण, चि.धू. भाण्ड को ताम्राश्मीय संस्कृति के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। चि.धू. भाण्ड के प्रारम्भिक काल की तिथि 1100 ई.पू. की अपेक्षा पुरातात्त्विक प्रमाणों के आधार पर लगभग आठवीं सदी ई.पू. निर्धारित की जा सकती है, जो कि व्हीलर के अनुमान (लगभग 800-500 ई.पू.) से भी ठीक बैठती है।

राजस्थान में नोह तथा यू.पी. में अतरंजीखेड़ा और हस्तिनापुर के चि.धू. भाण्ड स्तर से कार्बन की 14 तिथियाँ (तालिका 4) प्राप्त हैं। यद्यपि कायथा तथा अहिच्छत्र से भी (लगभग 400 ई.पू.) अनेक कार्बन तिथियाँ प्राप्त हैं पर उनका चि.धू.भा. से सम्बन्ध निश्चित न होने के कारण महत्त्व नहीं है। नोह में इस भाण्ड की प्रारम्भिक तिथि TF-993, 725±150 और UCLA-703 B, 820±225 के अनुसार लगभग 800 ई.पू. निर्धारित की जा सकती है। हस्तिनापुर की कार्बन तिथियों के अनुसार इस संस्कृति का अंत लगभग चार सदी ई.पू. है। अतरंजीखेड़ा से छठी सदी ई.पू. की दो अन्य तिथियाँ शायद और हैं (विदेशी प्रयोगशालाओं से) TF-191, 1025±110 प्राचीन तिथि होने के कारण अन्य तिथियों से असंगत हैं। ये तिथियाँ हस्तिनापुर तथा अतरंजीखेड़ा की अपेक्षा नोह में इस संस्कृति की तिथि और पहले निर्धारित करती है। कार्बन तिथियाँ इस संस्कृति के कालविस्तार को लगभग 800 से 350-400 ई.पू. के मध्य सीमित करती हैं।

(III) एन.बी.पी. मृद्भाण्ड संस्कृति का कालानुक्रम

भारत में कार्बन तकनीक के प्रयुक्त होने से पूर्व समझा जाता था कि एन.बी.पी. भाण्ड लगभग 600 से 300 ई.पू. प्रचलित थे और ये प्रमाण पुरातात्त्विक कालानुक्रम के

लिए प्रयुक्त होते थे। सर्वप्रथम हम दोआब के महत्त्वपूर्ण स्थल हस्तिनापुर से अपना सर्वेक्षण प्रारम्भ करते हैं।

काल III के अंत के पश्चात्, काल IV में, लाल के अनुसार लगभग 200 ई.पू. मथुरा में मुद्रा प्रचलित हुई। काल III तथा IV के मध्य, लाल, 100 वर्ष का अंतराल बताते हैं। हस्तिनापुर 1 में 1.5 से 2.7 और हस्तिनापुर II में 2.7 मीटर के निक्षेप के आधार पर वे काल III के छह प्रकाल निर्धारित करते हैं। प्रत्येक प्रकाल की अवधि 50 वर्ष मानकर वे काल III का सम्पूर्ण काल विस्तार 300 वर्ष बताते हैं। इस प्रकार एन.बी.पी. की संस्कृति का प्रारम्भ लगभग 600 ई.पू. निर्धारित करते हैं जबकि गौर्डन सिक्कों व मृण्मूर्तियों के आधार पर इस संस्कृति की उच्चतम सीमा लगभग 400 ई.पू. मानते हैं।

चित्रित धूसर भाण्ड स्थलों की कार्बन तिथियाँ

स्थल	कार्बन तिथियाँ ई.पू. (अर्धायु 5730 वर्ष)	
नोह (राजस्थान)	TF-1144,	490±90
	UCLA-703A,	605±260
	TF-993,	725±150
	UCLA-703B,	820±225
हस्तिनापुर (उत्तर प्रदेश)	TF-83,	335±115
	TF-112,	375±100
	TF-90,	390±115
	TF-85,	505±130
	TF-91,	570±125
अतरंजीखेड़ा (उत्तर प्रदेश)	TF-291,	535±100
	TF-191,	1025±110
खलौआ (उत्तर प्रदेश)	TF-1228,	530±95

तालिका 4 : चित्रित धूसर भाण्ड स्थलों की कार्बन तिथियाँ

अपने मत की पुष्टि में लाल ने कौशाम्बी के प्रमाणों का उद्धरण दिया। वहाँ पर प्राकृतिक मिट्टी के ऊपर तीन सतहों (स्तर 24 से 27 तक) से चार धूसर ठीकरें मिले। इन स्तरों के ऊपर 6' से 7' मोटी ऊसर मिट्टी थी। इस ऊसर तह के ऊपर 8 से 16 स्तर से एन.बी.पी. भाण्ड मिले। इन स्तरों की कुल मोटाई आठ फुट थी। इनके छह आवासी प्रकालों से कच्ची या पक्की ईंटों की इमारतों के अवशेष मिले। सातवीं सतह के बाद

कौशाम्बी के मित्र वंश के सिक्के मिले जिन्हें दूसरी सदी ई.पू. का बताया गया है जिसके अनुसार एन.बी.पी. काल का अंत दूसरी सदी के प्रारम्भ में हुआ होगा। इसके पहले के आठ आवासी प्रकालों को ध्यान में रखते हुए लाल ने कौशाम्बी में एन.बी.पी. का प्रारम्भ छठी ई.पू. निर्धारित किया। एन.बी.पी. की प्रारम्भिक तिथि के निर्धारणार्थ लाल ने तक्षशिला के प्रमाण भी प्रस्तुत किये। सिरकाप के प्रारम्भिक स्तर से प्राप्त दो एन.बी.पी. की ठीकरें मिले, जिनमें से एक का काल लगभग 200 ई.पू. है, जबकि दूसरा ठीकरा अस्तरित है। भीर टीले के 13 ठीकरों में 12 केवल 2.4 मीटर की गहराई से मिले। सिकन्दर का एक एकदम नया (बिना घिसा हुआ) सिक्का सतह से 2 मीटर की गहराई से मिला। इस आधार पर 2. 1 मीटर गहरे निक्षेप की तिथि लगभग 300 ई.पू. तथा उसके नीचे 2 मीटर के मलवे को और 300 वर्ष काल देकर, एन.बी.पी. का काल लगभग 600 ई.पू. रखा गया है। लाल ने भीड़ टीले के 2.1 मीटर, कौशाम्बी के 2.4 मीटर और हस्तिनापुर में 2.7 मीटर की मलवे की अलग-अलग सब गहराइयों को एक सा 300 वर्ष का काल दिया है।

इन्हीं प्रमाणों का विश्लेषण करते हुए व्हीलर का कथन है कि चूँकि तक्षशिला का स्तर विन्यास पद्धति से उत्खनन नहीं हुआ था, अतः यह गहराइयाँ कोई खास माने नहीं रखतीं। उनके विचार से एन.बी.पी. का काल 5 से 2 सदी ई.पू. निर्धारित होना चाहिए। चारसद्दा और उदैग्राम के प्रमाणों के आधार पर वे उत्तर पश्चिमी एन.बी.पी. काल को 320-150 ई.पू. रखते हैं, परन्तु यह मानते हुए कि दोआब में यह तिथि कुछ पहले की भी हो सकती है।

एन.बी.पी. तिलौराकोट से दक्षिण-पश्चिम में प्रभास पाटन तक और चारसद्दा (पेशावर) से नासिक और ब्रह्मपुरी तक मिलती है। थापड़ तथा व्हीलर के अनुसार एन.बी. पी. का प्रसार मौर्य काल में हुआ होगा, पर इसके विपरीत सिन्हा समझते हैं कि गंगा के दोआब में इसका चलन मौर्य काल से कहीं पहले हुआ तथा 300 ई.पू. के पश्चात् इसका चलन बहुत कम हो गया। कुमड़ाहार (प्राचीन पाटलीपुत्र) से एन.बी.पी. का न मिलना, इस भाण्ड का सम्बन्ध केवल मौर्य काल से ही होने के विरुद्ध जाता है जबकि दूसरी ओर राजबीर (मौर्यकाल से पहले) से पर्याप्त मात्रा में एन.बी.पी. भाण्ड मिले हैं। सिन्हा के विचार से इसके प्राथमिक क्षेत्र कौशाम्बी, राजगीर, वैशाली तथा श्रावस्ती थे। हस्तिनापुर, रोपड़, उज्जैन, कुमड़ाहार आदि द्वितीयक क्षेत्र थे। तक्षशिला व्यापार केन्द्र होने के कारण प्राथमिक क्षेत्र माना गया है। अतः उनके अनुसार केवल एन.बी.पी. का निश्चित तिथि-निर्धारण के लिए विशेष महत्त्व नहीं, इसलिए अन्य सामग्री का भी अध्ययन आवश्यक है। यह भाण्ड बड़ी मात्रा में केवल प्राथमिक स्थलों से ही पाया गया है।

हम एन.बी.पी. के आगमन को दोआद के मानसूनी जंगलों की सफाई व कृषि उत्पादन के साथ जोड़ते हैं। यह विकास बिहार के लोहे की प्राप्ति तथा लौह उपकरणों के प्रसार के साथ जुड़ा है। एन.बी.पी. का प्रसारण मुख्यतः दो प्रकार से हुआ (i) व्यापार या व्यापारियों द्वारा; (ii) एन.बी.पी. संस्कृति के प्रसार के साथ। उत्तरापथ तथा दक्षिणापथ के व्यापारिक मार्गों पर स्थित स्थलों में हम काल की दृष्टि से इसे प्राथमिक क्षेत्रों के समकक्ष रख सकते हैं। लोहे के बढ़ते हुए प्रयोग के साथ दोआब में बड़े पैमाने पर कृषि उत्पादन
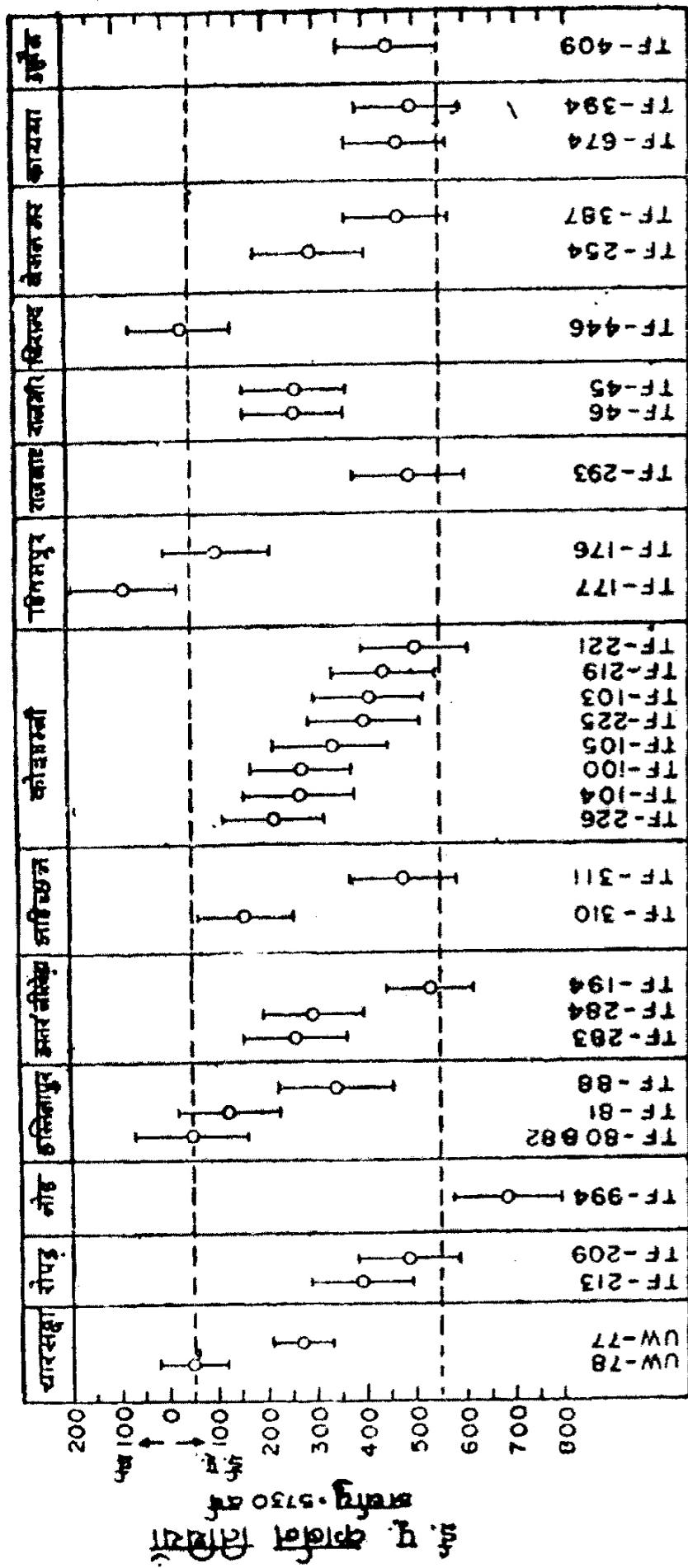
आरेख १० : एन.बी.पी. स्थलों की कार्बन तिथियाँ

ही यहाँ पर नागरीकरण, प्रारम्भ का कारण है। एन.बी.पी. संस्कृति के व्यापन की गति स्वाभाविक रूप से धीमी रही होगी क्योंकि ये प्रक्रियाएँ धीमी थीं।

एन.बी.पी. का श्रावस्ती में पहले मिलना और हस्तिनापुर में बाद को, इस परिकल्पना की पुष्टि करता है। हस्तिनापुर में चि.धू. भाण्ड संदर्भित लाल भाण्ड श्रावस्ती तथा पूर्व में एन.बी.पी. के साथ मिलते हैं। पूर्वी दोआब तक पहुँचते-पहुँचते चि.धू. भाण्ड अनगढ़ व मोटे हो गये। उस पर काली रेखाएँ ऐसी लगती हैं जैसे स्याही फैली हो। पूर्व में ये चि.धू. भाण्ड इतने भिन्न हैं कि इन्हे चि.धू. भाण्ड की संज्ञा देना ही गलत होगा।

एन.बी.पी. मृद्भाण्ड स्थलों की कार्बन तिथियाँ

स्थल	कार्बन तिथियाँ ई.पू. (अर्धायु 5730 वर्ष)	स्थल	कार्बन तिथियाँ ई.पू. (अर्धायु 5730 वर्ष)
चारसद्दा (पाकिस्तान)	UW-78, 50±70 UW-77, 270±60	कौशाम्बी (उत्तर प्रदेश)	TF-226, 220±100 TF-104, 270±100 TF-100, 275±100 TF-105, 335±115 TF-225, 400±110 TF-103, 410±110 TF-219, 440±110 TF-221, 500±105
रोपड़ (पंजाब)	TF-213, 390±105 TF-209, 485±100	हेतिमपुर (उत्तर प्रदेश)	TF-177, 80±105 A.D TF-176, 105±105
नोह (राजस्थान)	TF-994, 685±105	राजघाट (उत्तर प्रदेश)	TF-293, 490±110
हस्तिनापुर (उत्तर प्रदेश)	TF-80+ TF-82, 50±115 TF-81, 125±100 TF-88, 340±115	राजगीर (बिहार)	TF-46, 260±100 TF-45, 265±105
अतरंजीखेड़ा (उत्तर प्रदेश)	TF-283, 260±105 TF-284, 295±110 TF-194, 530±85	चिरान्द (बिहार)	TF-446, 35±105
अहिच्छत्र (उत्तर प्रदेश)	TF-310, 160±95 TF-311, 475±105	बेसनगर (मध्य प्रदेश)	TF-254, 295±110 TF-387, 470±105
		कायथा (मध्य प्रदेश)	TF-674, 470±100 TF-394, 495±100
		उज्जैन (मध्य प्रदेश)	TF-409, 450±95

तालिका 5 : एन.बी.पी. मृद्भाण्ड स्थलों की कार्बन तिथियाँ

उपर्युक्त सर्वेक्षण से स्पष्ट होता है कि दोआब के पूर्वी प्राथमिक क्षेत्रों में ही वास्तविक एन.बी.पी. भाण्डों का प्रचलन था। एन.बी.पी. भाण्ड निश्चित ही पूर्व मौर्य व बुद्धकालीन रहे होंगे जबकि पश्चिमी क्षेत्रों में यह मौर्य काल या उससे थोड़ा पहले प्रचलन में आये होंगे। दूरस्थ प्रदेशों में यह ईसा की प्रारम्भिक सदी तक प्रचलित रही। उत्तरापथ तथा दक्षिणापथ के स्थलों में इस संस्कृति का अधिक काल विस्तार होगा और इसकी शुरूआत प्राथमिक केन्द्रों के साथ ही हुई होगी।

हमने अब तक विभिन्न एन.बी.पी. भाण्ड स्थलों की 32 कार्बन तिथियाँ मापी (आरेख 10, तालिका 5) हैं। अधिकांश कार्बन तिथियों का विस्तार 550 से 50 ई.पू. के बीच है। पश्चिमी दोआब में TE.283, TE.284, TE.88 नमूनों द्वारा हस्तिनापुर और अतरंजीखेड़ा में इसका प्रारम्भ 350-300 ई.पू. हुआ है। TE-311 अहिच्छत्र से तथा TE-194 अतरंजीखेड़ा के नमूने हैं। उत्खनक के विवरण के अनुसार इस स्तर पर चि.धू. भाण्ड व एन.बी.पी. भाण्ड साथ-साथ मिलते हैं। कौशाम्बी की कई तिथियों का कालव्यापन 500 से 200 ई.पू. बैठता है। राजघाट की तिथि TE-293 के अनुसार लगभग 500 ई.पू. है। चारसद्दा की तिथि UW.77 और -78 थोड़ी परवर्ती है जैसा कि स्वाभाविक है। रोपड़ की दो तिथियों का औसत लगभग 400 ई.पू. दिया जा सकता है। यह बड़ी दिलचस्प बात है कि बेसनगर, कायथा और उज्जैन के चार नमूनों TE-387, -674-394, 409 की तिथियाँ लगभग 450 ई.पू. बैठती हैं। वे सभी स्थल दक्षिणापथ पर पड़ते हैं। इन तिथियों से लगता है कि लगभग पाँचवीं सदी ई.पू. में ही लम्बी दूरियों पर स्थित स्थलों से व्यापार शुरू हो गया था।

(ग) काले-लाल मृद्भाण्ड संस्कृतियाँ

बिहार तथा पश्चिमी बंगाल में ताम्राश्मीय संस्कृति व्याप्त थी जिसकी मुख्य विशेषता काले-लाल भाण्ड थे। चिरांद में लोहा काल II-बी में प्रकट हुआ। लेकिन इस संस्कृति की अन्य काल II-ए की विशेषताएँ पूर्ववत रहीं। यही क्रम हम पांडुर राजार धीबी और महिषदल (बंगाल) में पाते हैं। यद्यपि महिषदल के काल II से लोहा तथा प्रगलन के प्रमाण मिले हैं, काल II को काल I से प्राप्त धूसर भाण्ड तथा भाण्डों की अनगढ़ता के कारण अलग किया गया है।

इन पूर्वी स्थलों से केवल तीन कार्बन तिथियाँ (तालिका 7) मिली हैं। सोनपुर (बिहार) में लोहा काले-लाल भाण्डों के साथ मिला है जिनकी तिथि 635±110 ई.पू. है। चिरांद काल II के नमूने TF-336\की 765±100 ई.पू. व महिषदल के नमूने TE-389 की तिथि 690 ±105 ई.पू. है। इन सुसंगत तिथियों के अनुसार इस क्षेत्र में लौह युग के प्रारम्भ की तिथि लगभग 700 ई.पू. रखी जानी चाहिए।

(III) भारत के दक्षिणी प्रायद्वीप का लौह युग

दक्षिण के महाश्मीय लौह युग पर विचार करने से पूर्व हम मध्य तथा उत्तरी दक्कन

के पूर्व एन.बी.पी. लौह स्थलों की विवेचना करेंगे। मध्य भारत के पूर्व एन.बी.पी. स्तर से लोहे के उपकरण नागदा, उज्जैन, एरण तथा उत्तरी दक्कन में प्रकाश तथा बाहल से मिले हैं। नागदा के काल I का सादृश्य मालवा संस्कृति से है। बनर्जी के अनुमान से आवासी निक्षेप के एकत्र होने की दर 30 से.मी. प्रति 40 वर्ष है जिसके अनुसार नागदा काल II की तिथि लगभग 750 ई.पू. है। काल II में यद्यपि लोहा प्रयोग होने लगा तो भी काल I के ही मृद्‌भाण्ड प्रकार और लघु-अश्म प्रचलित रहे। हमारे विचार से इस आधार पर नागदा काल II की तिथि लगभग 900-800 ई.पू. निश्चित की जा सकती है। उज्जैन के काल I से लौह उपकरण उपलब्ध हुए हैं। काल II का एन.बी.पी. से सम्बन्ध होने से उसकी तिथि लगभग 450 ई.पू. निश्चित की गयी है। काल 1 के 2 मीटर गहरे निक्षेप से बनर्जी के अनुसार कुछ चि.धू. भाण्ड तथा दोहरी स्लिप वाले लाल भाण्ड मिले जो अहिच्छत्र में चि. धू. भाण्ड के साथ मिला है)। इस गणना के अनुसार हम उज्जैन काल I की तिथि लगभग 700 ई.पू. रखेंगे। लघु अश्मों तथा चित्रित लाल मृद्‌भाण्डों की अनुपस्थिति के कारण उज्जैन काल I को नागदा काल II के बाद रखा जाना चाहिए। प्रकाश से 4 मीटर गहरे निक्षेप एन.बी.पी. भाण्डों के स्तर से पहले का मिलता है। इस स्तर से लोहा मिला है। प्रकाश काल I की यदि मालवा संस्कृति का परिधीय स्थल भी मानें तो लौह-युग की तिथि भी लगभग यही होगी। देशपाण्डे को टेकवाडा में एक विशिष्ट प्रकार का शवाधान मिला जिसका फर्श पत्थरों का था। शवाधान में महाश्मीय काले-लाल तथा जोर्वे मृद्‌भाण्ड रखे मिले। उपर्युक्त सर्वेक्षण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि दक्कन में लोहे का प्रादुर्भाव जोर्वे संस्कृति के अंतिम काल में हुआ।

दक्षिणी प्रायद्वीप में विविध प्रकार के महाश्मीय स्थल हैं। दूर दक्षिण के मालाबार तट-प्रदेश में शवाधान के लिए लेटराइट चट्टानों को काटकर कक्ष बनाये गये थे जो कि पत्थर से ढके हुए थे। मैसूर में सिस्ट (ब्रेज) कब्रें ग्रेनाइट पत्थर की बनी थीं जिन पर, कुछ पर, गवाक्ष (पोर्ट होल्स) बने थे। कब्रें एक या अधिक पत्थरों से ढकी थीं। अंत्येष्टि सामग्री सिस्ट के अंदर तथा बाहर मिली। ये सिस्ट अधिक गहराई में नहीं गाड़े जाते थे। कुछ नंगी चट्टानों के ऊपर भी बनाये गये थे। गाड़े हुए सिस्ट के चारों ओर एक से तीन तक पत्थरों के वृत्त बनाये जाते थे। एक अन्य प्रकार के खुले गर्त में शव के मांस को गलने के लिए छोड़ दिया जाता था। तत्पश्चात् गर्त को ढक कर पत्थर का वृत्त बना दिया जाता था। एक दूसरे प्रकार में महाश्म खड़े पत्थरों की कतार से चिह्नित किये गये। जिनमें कभी-कभी 6 मीटर से भी ऊँचे पत्थर लगाये जाते थे। गुलबर्गा जिले से इस प्रकार के सैकड़ों महाश्म मिले हैं। हड्डियों को अस्थि कलशों में रखकर गर्त्त में दबाने की प्रथा भी प्रचलित थी। इन पर कभी-कभी पत्थरों के वृत्त भी बना दिये जाते थे। इस प्रकार के शवाधान पूर्वी तट पर आमतौर से प्रचलित थे। विविध प्रकार के अस्थि-कलशों पर पाये भी लगे थे इसलिए इन्हें शव-पेटिका (Sarcophagi) कहा जाता है। इनमें से कुछ पर ही जानवरों के सिर बने मिले।

उपर्युक्त मुख्य महाश्मों के अतिरिक्त कुछ अन्य छोटे प्रकार के भी महाश्म प्रचलित थे।

महाश्मों के विविध प्रकार होने के कारण उनका वर्गीकरण करना कठिन है। दूर-दूर स्थलों से जैसे आगरा जिले तथा कोटिया (इलाहाबाद) से भी महाश्म मिले हैं। कुछ कोटिया के महाश्मों की कार्बन तिथि निर्धारित की जा चुकी है लेकिन इनमें इतना वैविध्य होते हुए भी कुछ ऐसे विशेषक हैं जो इन सब स्थलों को एक महाश्मीय संस्कृति में बांध देते हैं – जैसे एक विशिष्ट प्रकार के काले-लाल भाण्ड, कुछ खास प्रकार के मृद्भाण्डों के समान आकार तथा बड़ी संख्या में समान लौह उपकरण। आवासी स्तरों से प्राप्त मृद्भाण्ड महाश्मीय संस्कृति के अन्तर्गत बांधते प्रकार शवाधानों से भी मिले हैं। लेकिन शवाधानों के मृद्भाण्ड कुछ विशिष्ट प्रकार के भी हैं, शायद उनका अंत्येष्टि संस्कार की दृष्टि से महत्त्व रहा होगा।

महाश्मों को केवल उनके आंतरिक प्रमाणों की दृष्टि में रखकर ही उनका तिथि निर्धारण करना सम्भव नहीं है। नागराज, आल्चिन तथा बनर्जी ने इनकी तिथि-निर्धारण में पहल की है। पहले लिखा जा चुका है कि बाहल, नागदा और टेकवाडा में उत्तरकालीन ताम्राश्मीय तथा प्रारम्भिक लौह-युग के आसार मिलते हैं। हल्लूर, हालिगली और पैयमपल्ली में नवाश्मीय तथा महाश्मीय संस्कृतियों के काल परस्पर व्यापी हैं। सौंदरा को नवाश्मीय शवाधान के साथ चमकदार (Burnished) धूसर मृद्भाण्ड, दो चंद्राकार लघु अश्म, एक ताम्र की चूड़ी और कुछ काले-लाल मृद्भाण्ड के ठीकरे मिले। हल्लूर के काल II के विषय में नागराज राव का मत है कि काल I प्रकाल 2 के विशेषक, फलक उद्योग के अलावा, चलते रहे। लौह-युग संस्कृति की विशिष्टता है - विशिष्ट प्रकार के काले-लाल मृद्भाण्ड, पूरे काले मृद्भाण्ड, सफेद और चित्रित प्रकार के भाण्ड और लौह उपकरण। पैयमपल्ली का विस्तृत विवरण प्राप्त नहीं है। दक्षिण में नवाश्मीय संस्कृति के अंतिम चरण में बड़ी संख्या में ताम्र उपकरण तथा जोर्वे प्रभाव पाया जाता है। इस प्रकार उत्तर दक्कन में, टेकवाड़ा तथा कर्नाटक क्षेत्र (उदाहरणार्थ हल्लूर) में लोहे का उद्भव जोर्वे संस्कृति के अंत में या अंत के बाद हुआ।

यहाँ हम यह मानकर चल रहे हैं कि आवास तथा महाश्मों से प्राप्त काले लाल मृद्भाण्ड एक ही संस्कृति से सम्बन्धित हैं। इस प्रकार काले-लाल मृद्भाण्ड के चलन के साथ ही महाश्म के चलन का प्रारम्भ माना जायगा। गोर्डन के मतानुसार दक्षिण अरब के कुछ व्यापारियों ने भारत के दक्षिण में लगभग 700 से 400 ई.पू. के मध्य लोहे का प्रचलन आरम्भ किया। यदि हम यमन के पाये वाले शवपेटिका (Sarcophagi) और चट्टान काटकर बनाये गये शवाधानों की समानता मालाबार के नमूनों से करें तो गौर्डन का तर्क महत्त्वपूर्ण लगता है। अल्चिन ने पेरुमल के उत्खनन से प्राप्त लम्बी खुली टोंटी वाले जग और कटोरे व सपीठ छोटे कटोरों के प्रकारों को स्याल्क B के अनुरूप बताया है। स्थल मार्ग से दक्षिण भारत में लौह प्रसारण की अपेक्षा समुद्र द्वारा इस भाग में प्रसारण होना अधिक संभव लगता

है। उत्तरी आर्कोट जिले में संगामेडू के उत्खनन से लौह के प्रारम्भिक चलन के प्रमाण मिलते हैं। यहाँ पर काले-लाल मृद्भाण्ड के 3 मीटर के निक्षेप के पश्चात् रूलैटड (Rouletted) मृद्भाण्ड का आगमन हुआ।

काले-लाल भाण्ड में अल्चिन ने कालानुक्रम का अंतर देखा है। उनके अनुसार लौह-युग का प्रथम चरण पिकलीहाल (स्थल VI, 3 स्तर) और हल्लूर (स्तर 4-7) में है, जो कि ब्रह्मगिरि के पत्थर के फर्श वाले शवाधान-गर्तों के समकक्ष है। इन शवाधानों से काले-लाल तथा जोर्वे प्रकार के मृद्भाण्ड के साथ लौह उपकरण भी सबसे पहले यहीं इनके साथ मिले। इनके अतिरिक्त इस चरण की अन्य विशिष्टताएँ हैं – सफेद चित्रित काले-लाल मृद्भाण्ड, पत्थर की कुल्हाड़ी तथा फलक जो इस काल में भी चलते रहे, जबकि हल्लूर के इस चरण से ये नहीं मिलते। द्वितीय चरण की विशिष्टताएँ हैं घिस कर चमकाये हुए काले-लाल, काले और लाल भाण्ड। अल्चिन के मतानुसार ब्रह्मगिरि का महाश्मीय काल, पिकलीहाल लौह स्तर, और मास्की II सभी इसी चरण में आते हैं।

तृतीय चरण की विशिष्टताएँ हैं – गेरुआ लेपी (Russet coated) या आंध्र मृद्भाण्ड और रूलेटेड मृद्भाण्ड। अरीकामेडू में रूलेटेड मृद्भाण्ड एर्रेटाईन (Arretine) मृद्भाण्ड के नीचे मिले थे। रूलेटेड भाण्डों की थालियों की एन.बी.पी. भाण्डों से उल्लेखनीय समानता है। यह कुछ नहीं कहा जा सकता कि पुरातात्त्विक दृष्टि से इस समानता का क्या महत्व है। दक्षिण के इस लौह युग के तृतीय चरण को पहली-दूसरी सदी में रखा जा सकता है। इस चरण के अन्तर्गत ब्रह्मगिरि के महाश्मीय काल, मास्की काल II और पिकलीहाल लौहयुग के ऊपरी स्तर आते हैं।

(IV) विदर्भ की महाश्मीय संस्कृति

देव को पौनार और कौंडियपुर के उत्खनन से लाल रंग से चित्रित काले भाण्ड (मालवा-जोर्वे भाण्डों के विपरीत) मिले थे। उन्होंने नागपुर क्षेत्र (विदर्भ) में तकलाघाट तथा खापा का भी उत्खनन किया। ये सभी स्थल एक ही संस्कृति के भाग हैं। इन सब स्थलों की समान विशिष्टताएँ हैं। मृद्भाण्डों की बनावट और प्रकार ताम्र तथा लौह उपकरणों के आकार एक से ही हैं। यहाँ के महाश्मीय शवाधानों के गर्त्तों से मानव अस्थियों के साथ घोड़े की सी हड्डियाँ भी मिली हैं। गर्त्त के चारों ओर पत्थर के वृत्त मिले थे। गर्त्त मिट्टी तथा पत्थर से भर गये थे। खापा महाश्मीय व तकलाघाट आवासी स्तर के अवशेषों के बीच पूर्ण समानताएँ हैं। मुख्य असमानता केवल शवाधानों में चित्रित मृद्भाण्डों की अनुपस्थिति है। देव के अनुसार विदर्भ और ब्रह्मगिरि, मास्की, सानूर और आदिचन्नालूर के महाश्मों के बीच मृत्तिका शिल्प भाण्ड आकार, लोहे के हथियारों तथा मनकों में समानताएँ हैं। यहाँ तक कि दोनों क्षेत्रों के काले-लाल मृद्भाण्डों पर रेखांकन और निक्षारित तामड़ा पत्थर के मनकों के

प्रतिरूपों में बहुत समानता है।

(V) महाश्मीय संस्कृति की कार्बन तिथियाँ (आरेख 11, तालिका 6)

वाराणसी जिले में चन्द्रप्रभा घाटी के महाश्मों को, उत्खनक ने ताम्राश्मीय संस्कृति के अन्तर्गत रखा है। काकोरिया के ऐसे ही महाश्मीय स्थल से संगोरा वृत्त और सिस्ट मिलें। इन शवाधानों में मानवी हड्डियाँ और मृद्भाण्ड और एक कब्र में से सोने की चूड़ी भी मिलीं। लघुअश्मों की प्राप्ति तथा मध्य भारत की ताम्राश्मीय संस्कृतियों से तथाकथित सादृश्य
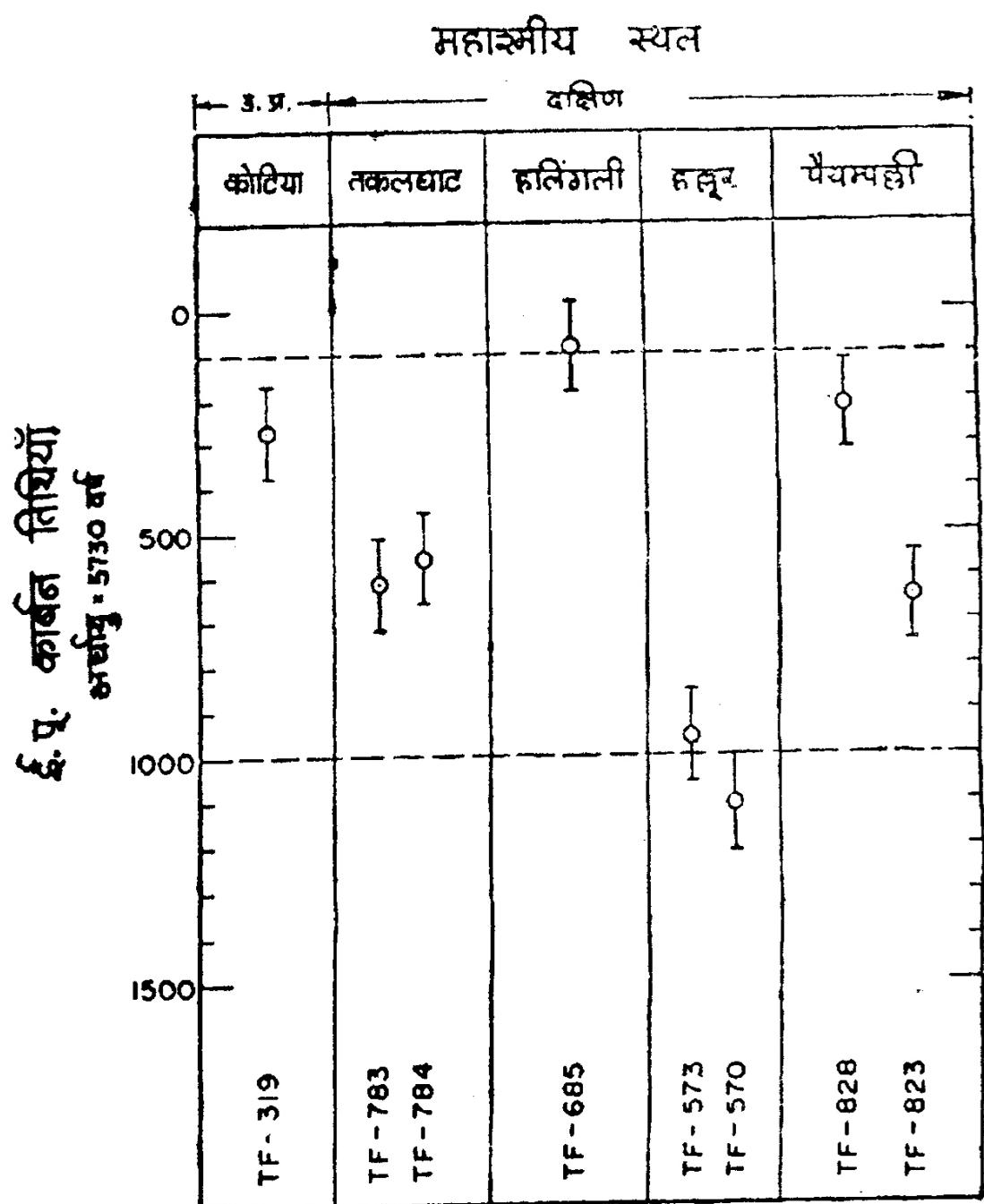
आरेख 11 : महाश्मीय स्थलों की कार्बन तिथियाँ

महाश्मीय स्थलों की कार्बन तिथियाँ

स्थल	कार्बन तिथियाँ ई.पूर्व (अर्धायु 5730 वर्ष)	
कोटिया (उत्तर प्रदेश)	TF-319,	270±105
तकलाघाट (विदर्भ, महाराष्ट्र)	TF-783, TF-784,	615±105 555±100
हालिंगाली (मैसूर)	TF-685,	80±100
हल्लूर (मैसूर)	TF-573, TF-570,	955±100 1105±105
पैयमपल्ली (तामिलनाडु)	TF-828, TF-823,	210±100 640±105

तालिका 6 : कोटिया, हालिंगाली के महाश्मीय और काले-लाल भाण्डों के लौहयुग के स्थलों की कार्बन तिथियाँ

तथा एन.बी.पी. भाण्ड और लोहे की अनुपस्थिति के कारण इन महाश्मों को ताम्राश्मीय कहा गया है। इनसे प्राप्त कोयले की कार्बन तिथि के अनुसार काकोरिया का महाश्मीय काल केवल 300 वर्ष पुराना है। यह कब्र बाद की या विशृंखलित हुई, कुछ कहा नहीं जा सकता। उत्खनक के अनुसार इलाहाबाद जिले के काकोरिया और कोटिया महाश्मों के बीच कोई सम्बन्ध नहीं है। कोटिया के महाश्म लौह-युग के हैं। इस स्थल के एक महाश्म की तिथि TF-319, 270±105 है। हालिगली महाश्म की तिथि TF-685, 80±100 ई.पू. है। परन्तु उत्खनक के अनुसार शवाधान बाद में विशृंखलित हुए और इसमें बाद में कोयला गिरा होगा। अब तक महाश्मीय संस्कृति की दो ही निश्चित कार्बन तिथियाँ हैं।

लौह-युग की बस्तियों में पैयामपल्ली (तामिलनाडु) के नमूने TF-828 और -823 के अनुसार इसकी तिथि लगभग 600-200 ई.पू. है। हल्लूर की नवाश्मीय व महाश्मीय परस्पर-व्याप्त स्तरों की तिथियाँ लगभग 1000 ई.पू. (TF.573 और -570) हैं। यह सबसे पूर्ववर्ती तिथि है। यह उल्लेख करना आवश्यक है कि यदि हल्लूर में नवाश्मीय संस्कृति का अंत अचानक हो गया और लौह काल का उद्भव कुछ अन्तराल के बाद हुआ तो ये तिथियाँ नवाश्मीय काल I_2 की भी हो सकती हैं। काल I_2 की तीन तिथियाँ हैं। प्रकाल II की TF-575, 1030±570 और TF-570, 1105±105 तिथियाँ एक मानक विचलन के अन्दर एक ही हैं। काल II में प्रस्तर फलक उद्योग का अचानक अन्त नवाश्मीय और लौह-स्तरों के

बीच अन्तर्व्यापन और निरन्तरता को संदिग्ध बना देता है। दक्षिण में लौह के उपयोग का तिथि निर्धारण केवल हल्लूर की TF-573 और 570 तिथियों पर निर्भर करता है। अतः कालानुक्रम के पुष्टिकरण के लिए और भी तथ्य और तिथियाँ आवश्यक है। यदि दक्षिणी महाश्मीय काल लगभग 1000 ई.पू. या बाद तक चला तो हमें आवासी निक्षेप काफी गहरे मिलने चाहिए। अभी तक के निक्षेप के पतलेपन से इतने लम्बे काल विस्तार पर शंका व्यक्त की जा सकती है। तकलाघाट की दो कार्बन तिथियाँ TF-783, 615±105 और TF-784, 555±100 ई.पू. हैं।

यदि हम हल्लूर, तकलाघाट और कोटिया की सबसे प्रारम्भिक तिथियाँ क्रमशः लगभग 1000 ई.पू. 600 ई.पू. व 3000 ई.पू. मानें तो ऐसा लगता है कि महाश्मीय संस्कृति का प्रसार दक्षिण से उत्तर की ओर हुआ।

(VI) भारत में लौह-युग

यद्यपि दूसरी सहस्राब्दी ई.पू. के प्रथम भाग से ही टर्की में लौह तकनीक का ज्ञान था लेकिन उसके आस-पास के क्षेत्रों में लगभग 1200 ई.पू. से पहले यह तकनीक ज्ञात न थी। आमतौर से यह माना जाता है कि थ्राकोफ्राईजियनों की हिट्टाइटों पर विजय के बाद लौह तकनीकों पर हिट्टाईट का एकाधिकार खत्म हो गया। परन्तु प्रजेक्र्वसकी का मत है कि लौह तकनीक का विकास कई पश्चिमी देशों के लम्बे समय तक सतत् संयुक्त प्रयत्नों के बाद हुआ। भारत की पश्चिमी सीमा पर, स्याल्क नेकरोपोलिस B में सर्वप्रथम लौह का प्रादुर्भाव हुआ। इस काल में लोहे की अपेक्षा ताम्र मुख्य धातु था। स्याल्क B काल से प्रचुरमात्रा में लोहे के बर्तन, तलवारें, कटारें, बाणाग्र, घोड़े का साज आदि मिले। ग्रिशमान ने स्याल्क नेकरोपोलिस B की तिथि लगभग 900 ई.पू. बतायी है। अफगानिस्तान के स्थलों की लोहे के उद्भव की तिथियाँ व अन्य सामग्री अधिक उपलब्ध नहीं है। लेकिन अक्कुपरूक काल IV से लोहे के बाणाग्र, कटोरे और घोड़े के साज मिले। इन उपकरणों की तुलना स्याल्क B से की जा सकती है।

स्वात घाटी व बाजौर के अनेकों कब्रों का उत्खनन किया जा चुका है। (उनकी कार्बन तिथियों का विवेचन पहले ही किया जा चुका है) लगभग 1000 ई.पू. लोहा इस क्षेत्र में प्रगट होने लगा था। पिराक (बलूचिस्तान) में कार्बन तिथियों (तालिका-7) द्वारा लौह काल का प्रारम्भ लगभग 800 ई.पू. निश्चित होता है तथा स्यालक B से समानता के आधार पर मुगल घुंडई और जीवन्ती संगोरा का काल लगभग 900-800 ई.पू.। जागियन संगोरा शवाधानों की कोई भी कार्बन तिथि नहीं हैं।

राजस्थान की लौह-कालीन चि.धू. मृद्भाण्ड संस्कृति की कार्बन तिथि लगभग 800 ई.पू. है (आरेख 12, तालिका 4)। दोआब के पूर्वी स्थलों सोनपुर, चिरान्द (बिहार) और महिषदल (पश्चिमी बंगाल) की कार्बन तिथियों के अनुसार लोहे का प्रारम्भ लगभग 700 ई. पू. (आरेख 12) हुआ। दक्षिण में हल्लूर की तिथि लगभग 1000 ई.पू. है (तालिका 8)।

उपर्युक्त कुछ कार्बन तिथियों का विश्लेषण करने पर लगता है कि उत्तर में लौह तकनीक का प्रसार ईरान से स्थल मार्ग से लगभग सौ दो सौ साल में हुआ होगा। स्टाकुल के मतानुसार गालीगाई V की अनेकों सांस्कृतिक विशिष्टताओं की समानता डेन्यूब घाटी की संस्कृतियों से है। स्वात घाटी के काल V में लोहे के साथ धूसर मृद्‌भाण्ड का चलन व इसी प्रकार भारत के चि.धू. भाण्ड के साथ लोहे का मिलना महत्त्वपूर्ण समझा जा सकता है। यदि हम लौह तकनीक के प्रसारण को स्वात घाटी से होते हुए मानें तो राजस्थान में नोह की तिथि लगभग 800 ई.पू. संगतपूर्ण बैठती है। सम्भवतः लौह तकनीक का विहार में प्रसार, लगभग 800 ई.पू. संगतपूर्ण बैठती है। सम्भवतः लौह तकनीक का विहार में प्रसार, प्रारम्भ

प्रारम्भिक लौह काल के स्थलों की कार्बन तिथियाँ

स्थल	कार्बन तिथियाँ ई.पूर्व. (अर्धायु 5730 वर्ष)		संस्कृति व काल
लोएबा 1 स्वात	BM-195,	1120±154	गालीगाई II
लोएबा 1 स्वात	BM-196,	985±154	गालीगाई II
लोएबा 1 स्वात	R-474,	510±72	गालीगाई II
तीमारगढ़ (बाजौर)	?	1530±72	गालीगाई II
तीमारगढ़ (बाजौर)	?	940±62*	गालीगाई II
नोह (राजस्थान)	UCLA-703B,	822±225	चि.भू. भाण्ड
	TF-993,	725±150	चि.भू. भाण्ड
सोनपुर (बिहार)	TF-376,	635±110	काले-लाल भाण्ड
चिरान्द (बिहार)	TF-336,	765±100	काले-लाल भाण्ड
महिषदल (पश्चिमी बंगाल)	TF&389,	690±105	काले-लाल भाण्ड
हल्लूर (मैसूर)	TF-573,	955±100	नवाश्मीय-महाश्मीय संक्रान्ति काल
	TF-570,	1105±105	नवाश्मीय-महाश्मीय संक्रान्ति काल
पिराक बलूचिस्तान	TF-1108,	775±105	लौह युग
	TF-1201,	775±155	लौह युग
	TF-861,	785±105	लौह युग
	TF-1109,	830±125	अज्ञात
	TF-1202,	1075±80	अज्ञात

तालिका 7 : प्रारम्भिक लौह युग के स्थलों की तुलनात्मक कार्बन तिथियाँ

*दानी ने इसकी तुलना गालीगाई काल VI से की।
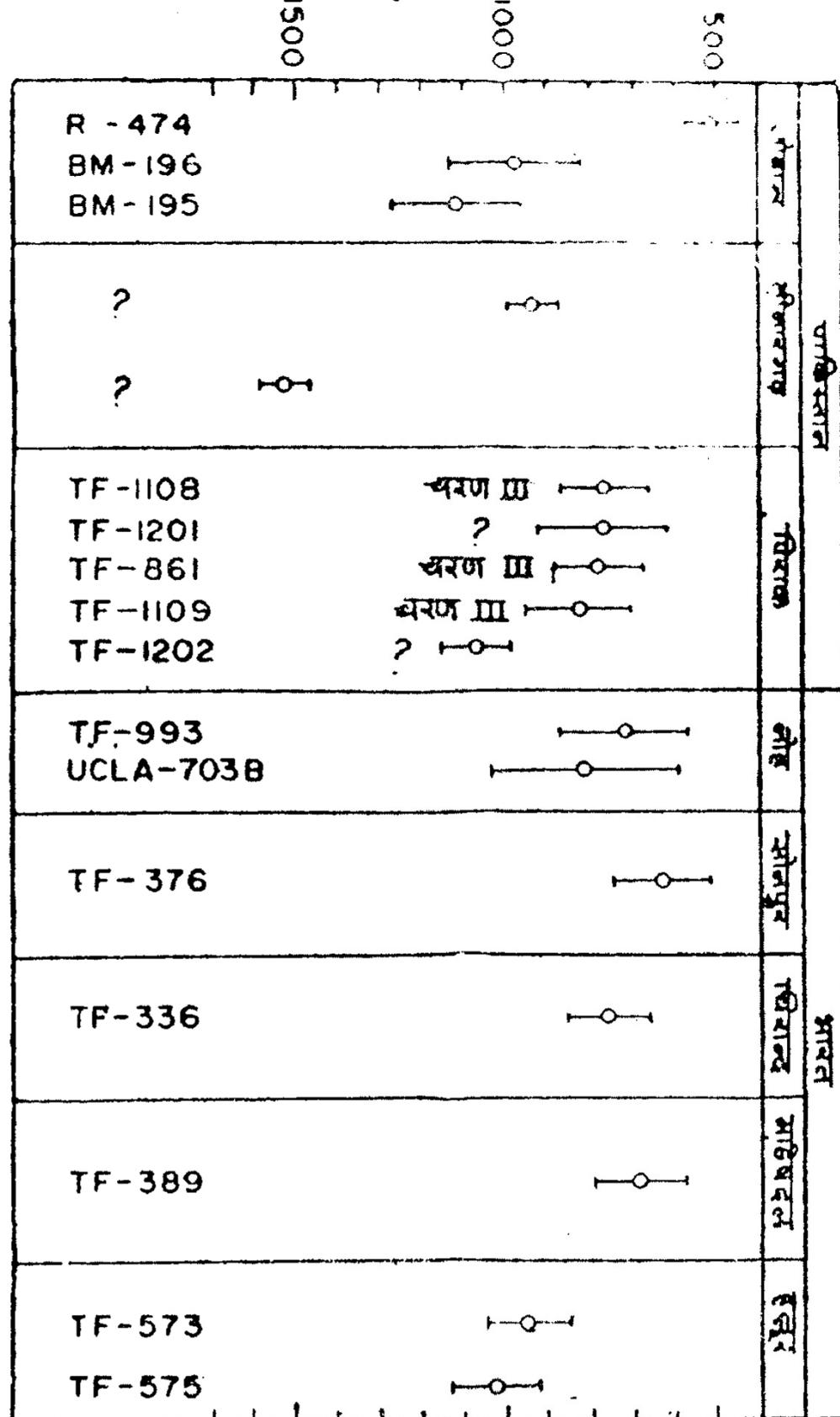
आरेख 12 : आदि लौह काल की कार्बन तिथियाँ

नवाश्मीय स्थलों की कार्बन तिथियाँ

स्थल	कार्बन तिथियाँ ई.पू. (अर्धायु 5730 वर्ष)	स्थल	कार्बन तिथियाँ ई.पू. (अर्धायु 5730 वर्ष)
गालगाई (पाकिस्तान)	R-377a, 1608±50 R-379a, 2355±70 R-379, 2422±55 R-380, 2376±140	उत्नूर (आंध्र प्रदेश)	TF-168, 2040±115 TF-167, 2050±115 BM-54, 2295±155
किलीगुल मोहम्मद (पाकिस्तान)	UW-61, 3470±83 P-524, 3690±85 L-180a, 3510±515	तरदल (मैसूर)	TF-683, 1770±120 TF-684, 1935±100
बुर्जाहोम (कश्मीर)	TF-15, 1535±110 TF-129, 1825±100 TF-13, 1850±125 TF-14, 2025±350 TF-127, 2100±115 TF-123, 2225±115 TF-128, 2375±120	टेक्कलाकोटा (मैसूर)	TF-239, 1540±105 TF-262, 1610±140 TF-237, 1615±105 TF-266, 1780±105
कोडेकल (आंध्र प्रदेश)	TF-748, 2460±105	संगनकल्लू (मैसूर)	TF-359, 1550±105 TF-355, 1585±105 TF-354, 1590±110
पलावाय (आंध्र प्रदेश)	TF-700, 1540±100 TF-701, 1965±105		
हल्लूर (मैसूर)	TF-573, 955±100* TF-570, 1105±105 TF-575, 1030±105 TF-586, 1195±110 TF-576, 1425±110 TF-580, 1710±105	चिरान्द (बिहार)	TF-1035, 1270±105 TF-1127, 1375±100 TF-1125, 1515±155 TF-1033, 1540±110 TF-1034, 1570±115 TF-1030, 1580±100 TF-1031, 1675±140 TF-1032, 1755±155
पैयमपल्ली (तामिलनाडु)	TF-833, 1360±210 TF-349, 1485±100 TF-827, 1725±110	बारूदीह (बिहार)	TF-1099, 750±110 TF-1100, 1055±210 TF-1101, 595±90 TF-1102, 660±90
टी. नर्सीपुर (मैसूर)	TF-413, 1495±110 TF-412, 1805±110		

तालिका 8 : पश्चिमी पाकिस्तान, कश्मीर, दक्षिणी भारत और बिहार की नवाश्मीय संस्कृतियों की कार्बन तिथियाँ।

*नवाश्मीय और महाश्मीय परस्पर व्यापी हैं।

में कुछ साहसी आदि जातियों द्वारा हुआ हो, जो लौह अयस्कों की खोज में निकले थे। इस संदर्भ में कौशाम्बी का कथन महत्त्वपूर्ण है कि आर्यों की मुख्य बस्तियों का पूर्ववर्ती प्रसार हिमालय के गिरिपादों के साथ दक्षिणी नैपाल में तत्पश्चात् (बिहार में) चंपारन जिले से दक्षिण की ओर गंगा की घाटी तक हुआ। जंगल जलाकर साफ किये गये। परन्तु यह मैदानी प्रसार गंडक नदी के पश्चिम तक ही हो पाया, जैसा कि शतपथ ब्राह्मण के साक्ष्य से भी ज्ञात होता है। इसकी तिथि 700 ई.पू. होनी चाहिए। लेकिन चम्पारन से दक्षिण की ओर मुड़ने का अर्थ अयस्कों की खोज के लिए था। इस प्रकार यदि हम बिहार में लोहे के प्रयोग की 700 ई.पू. तिथि निर्धारित करें तो इसके सांस्कृतिक महत्त्व का आभास होता है।

यदि दक्षिण में लौह-युग के प्रारम्भ की तिथि (लगभग 1000 ई.पू.) की पुष्टि अन्य कार्बन तिथियों से हो जाती है तो यही समझा जा सकता है कि यहाँ इसका प्रसार समुद्री मार्ग से ही हुआ होगा। स्याल्क बी की पेरुमूल पहाड़ियों के अवशेषों से समानता तथा महाश्मों का यमन से सादृश्य भी समुद्री व्यापार द्वारा ही इन समान सांस्कृतिक विशिष्टताओं के प्रसार को दर्शाता है।

दक्षिण में महाश्मीय संस्कृति प्रबल थी परन्तु विभिन्न प्रकार के महाश्म हिमाचल प्रदेश, अल्मोड़ा, आगरा, इलाहाबाद व वाराणसी के जिलों से तथा आसाम से भी मिले हैं। कोटिया (उत्तर प्रदेश), खापा विदर्भ और प्रायद्वीप के अन्य गर्त वृत्तों (Pit circles) के मृद्भाण्डों और लौह उपकरणों के बीच समानताएँ हैं। हल्लूर की तिथि लगभग 1000 ई.पू. ताकुला घाट की लगभग 600 ई.पू. और कोटिया की लगभग 300 ई.पू. है। अतः कालस्थान दोनों दृष्टियों से दक्षिण से उत्तर में महाश्म प्रसारण की संभावनाएँ तर्क संगत लगती है। भौगोलिक दृष्टि से भी खापा के महाश्म कर्नाटक और उत्तर प्रदेश के मध्य पड़ते हैं।

प्राप्त सीमित तथ्यों से उक्त परिकल्पनाओं द्वारा भारत में लौह प्रसार और महाश्मीय संचरण को समझा जा सकता है। परन्तु पूर्ण और अधिक प्रामाणिक व्याख्या के लिए अधिक उत्खनन और नये व पुराने सर्वेक्षणों तथा उत्खननों की रिपोर्टों का शीघ्र प्रकाशन नितान्त आवश्यक है।

अध्याय 5 : संदर्भिका

इस अध्याय विषयक मुख्य ग्रन्थ

D.P. Agarwal and Sheela Kusumgar. : Prehistoric Chronology and Radiocarbon Dating in India, 1973 (Delhi).

B.&F.R. Allchin : Birth of Indian Civilisation, 1968, (Harmondsworth).

N.R. Banerjee : The Iron Age in India, 1965 (Delhi)

D.D. Kosambi : The Culture and Civilisation of Ancient India in Historical Outline, 1965 (London)

K.S. Ramachandran : Biblograph of Indian Megaliths, 1971 (Madras).
G.R. Sharma : Excavation at Kausambi, 1960 (Allahabad).
K.K. Sinha : Excavation at Sravasti : 1959, 1967 (Varanasi).
Vibha Tripathi : Unpublished Thesis (Banaras Hindu University).

इस अध्याय विषयक मुख्य लेख

G. Stacul : East and West, Vol. XVI, P. 37-39, and P. 261-274, 1966.

काटेलाई कब्रों और गालीगाई उत्खनन पर

G. Stacul : East and West, Vol. XVII, P. 185, 219, 1967.
G. Stacual : East and West, Vol. XIX, No. 1-2, P. 43-91, 1969.

कलाम कब्रों पर

G. Stacul : East and West, Vol. XX, Nos. 1-2, P. 87-102, 1970.

तीमारगढ़ और दीर कब्रों पर

A.H. Dani : Ancient Pakistan, Vol. III, 1967.
A.H. Dani : Asian Perspectives, Vol. VIII, 1, 1966.
R.L. Raikes : East and West, Vol. XIV, P. 1963.

उत्तरी भारत, हस्तिनापुर आदि पर

B.B. Lal : Ancient India, Nos. 10 & 11, 1954-55.

विविध स्थलों के उत्खनन पर

: Indian Archaeology - A review Nos. 1954-1973.

चित्रित धूसर मृद्भाण्ड पर

D.P. Agarwal : Proc. Aligarh Seminar, 1968.
K.N. Dikshit : In Radiocarbon and Indian Archaeology, (Eds.) D.P. Agarwal and A. Ghosh, 1973 (Bombay).
Vibha Tripathi : In Radiocarbon and Indian Archaeology, (Eds.) D.P. Agarwal and A. Ghosh, 1973 (Bombay).

✪✪✪

अध्याय 6

प्राचीन विश्व व भारत में धातुकर्म

I. ताम्र-उत्पादन का प्रारंभ*

सर्वप्रथम मानव ने प्राकृत ताम्र का उपयोग किया होगा जो कि व्यापक रूप से उपलब्ध था। इसे ठीक कर इच्छानुसार आकार देना आसान रहा होगा लेकिन अधिक हथौड़ियाने से ताम्र भंगुर होकर, चटक कर टूट जाता है। पुनः उपयोग के लिए इसे तपा कर लाल करना पड़ता है। किस प्रकार इस तापानुशीतन (annealing) प्रक्रिया की शुरूआत हुई होगी, इसका केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है। टौमसन का अनुमान है कि टूटे हुए ताम्र के टुकड़े को क्रोधावेश में आग में फेंक देना स्वाभाविक है और तत्पश्चात् उसे निकालने का प्रयत्न भी स्वाभाविक है। इस प्रकार तपित ताम्र तापानुशीतन द्वारा फिर उपयोग योग्य हो गया होगा।

किसी पुरातात्त्विक निक्षेप से प्राप्त थोड़े से धातु के आधार पर उस काल को ताम्र या कांस्य युग के अंतर्गत नहीं रखा जा सकता। ताम्र या कांस्य युग के अंतर्गत आने वाली संस्कृतियों में धातु तकनीकों का ज्ञान केवल ताम्र के उपयोग की अपेक्षा अधिक अनिवार्य है। विविध धातु तकनीकों का विकास एक कालानुक्रमिक विकास की प्रक्रिया है।

जबसे अयस्क से ताम्र निकाला जाने लगा, तभी से धातुकर्म प्रारंभ हुआ होगा। प्रश्न है कि सर्वप्रथम इस प्रक्रिया का प्रारंभ कहाँ हुआ? एचिंसन के अनुसार आक्साइड अयस्क से गलन की सर्वप्रथम खोज निम्न प्रकार के संयोग से हुई होगी। मृदभांड अलंकृत करने के लिए मैलेकाइट प्रयुक्त होता था। दो मंजिले मृद्भांड भट्टे में 1083^0 सेंटीग्रेड से अधिक तापमान आसानी से पहुँच सकता था। यदि भूल से किसी ने इस भट्टे में मैलेकाइट डाल दिया होगा, तो वह ताम्र में परिवर्तित हो गया होगा। कौगलन ने इस अनुमान को प्रयोग द्वारा सिद्ध किया है परन्तु गोलैंड के मतानुसार इसकी खोज 'कैंपफायरों' में हुई होगी। लेकिन 'कैंपफायरों' में ताम्र के प्रगलांक (1089^0C) तक ताप का पहुँचना असंभव है।

प्राचीन संसार में धातु-विज्ञान के जन्म-स्थान की खोज के लिए हमें अनातोलिया से आर्मेनिया के पहाड़ों के पूर्व में अफगानिस्तान तक के क्षेत्र का अवलोकन करना होगा। ये क्षेत्र प्राकृत ताम्र व इसके अयस्कों से परिपूर्ण हैं। एचिंसन के मतानुसार एल्बुर्ज पर्वत और कैस्पियन सागर के मध्य का क्षेत्र ताम्र शोधन की शुरूआत के लिए अधिक संभावित क्षेत्र

---

*इस अध्याय में वर्णित प्रमाणों के तकनीकी विस्तृत विवरण के लिए अग्रवाल की The Copper Bronze Age in India देखें।

है। इस खोज की तिथि उसने लगभग 4300 ई.पू. निर्धारित की है। इस क्षेत्र में जंगली पिस्ता व अन्य वृक्ष (Haloxylon amodendron आदि) उगते थे, जो कि धातुकर्म के ईंधन के लिए बहुत उपयोगी थे, हाल में पराग अध्ययन से भी सिद्ध हुआ है कि जगरोस पर्वतों के पार्श्व में 10,000 से 5000 ई. पूर्व जंगली पिस्ते के जंगल थे।

कुछ विद्वान् विश्वास करते हैं कि लगभग 4000 ई. पूर्व में केवल उत्तर पूर्वी ईरान में ही ताम्र धातु-विज्ञान का सर्वप्रथम प्रादुर्भाव हुआ। हेंगडे इस विश्वास को प्रमाणित तथ्य मानते प्रतीत होते हैं। हाल में ही माशिज घाटी (किरमान पर्वतमाला) के ताल-ए-इब्लिस स्थल से लगभग 4000 ई. पूर्व के अयस्क प्रगलनार्थ प्रयुक्त होने वाली मूषाएँ (Crucibles) मिली हैं। अतः इस स्थल को सर्वप्रथम ताम्र प्रगलन केन्द्रों में से एक कहा जा सकता है। मिश्र में धातुकर्म का इतिहास बहुत अच्छी तरह ज्ञात है। लगभग 5000 ई. पूर्व तासियन काल में धातु का वर्णन नहीं मिलता। बादरियन लोग (जो संभवतः एशिया से आये थे) प्राकृत ताम्र के पिन, सुइयाँ, मछली के काँटे आदि प्रयोग करते थे। अमरासियन लोग (लगभग 4000 से 3700 ई.पू.) ताम्र के ही बने मत्स्य-भालों (Karpoons) चिमटी और छेनी जैसे प्राकृतिक उपकरणों का काफी मात्रा में प्रयोग करते थे। गार्जियन काल में (लगभग 300 ई. पूर्व) मिस्र का मेसोपोटामिया, फिलिस्तीन व क्रीट से संपर्क था। मात्रा की दृष्टि से गार्जियन काल में ताम्र की अधिक प्रचुरता थी। इस काल में ताम्र को प्रगलित कर बसूले, कंगल, छल्ले और छेनी बनाये जाते थे। इसी काल में चित्रित मृद्भांड भी प्रचलित हुए। पूर्व राजवंश (Pre-Dynasty) के उत्तर काल में (लगभग 3200 ई.पूर्व) अधिक उपयोगी उपकरण जैसे कटोरे, चपटी कुल्हाड़ियाँ, नुकीले भालाग्र, बसूले, चाकू और मत्स्य भाले प्रचलित हुए। मेसोपोटामिया में सबसे पहले प्रचलित ताम्र अल्-उबैद काल (लगभग 4000 ई. पूर्व) से मिला है। उरुक काल में ताम्र काफी प्रचलित हो गया था और अधिक कठिन उपकरण जैसे हत्थे के लिए छेद वाली कुल्हाड़ियाँ सफलतापूर्वक बनायी जाने लगीं। यह उल्लेखनीय बात हैं कि उस काल में धातुकर्म के साथ-साथ हड़प्पा की ही भांति, नागरीकरण का भी प्रादुर्भाव हुआ। कुछ काल बाद खफाजे में, ताम्र-पात्र समाधि में रखे जाने लगे। 'उर के चाल्डीज' की राजकीय समाधि से प्रचुर मात्रा में उत्कृष्ट ताम्र भंडार उपलब्ध हुआ है। हड़प्पा की अपेक्षा, सुमेरिया में उर के प्रारंभिक राजवंश (Early Dynasty) काल से ही धातु-कर्म की कहीं अधिक विकसित तकनीकों के प्रमाण मिलते हैं। मेसोपोटामिया का धातुकर्म मिश्र की अपेक्षा पूर्ववर्ती है, पर ईरान की अपेक्षा थोड़ा बाद का है। ईरान में सूसा से (लगभग 4000 ई. पूर्व) मैलाकाईट से बने ताम्र के उपकरण जैसे छेनी, सूइयाँ, दर्पण प्राप्त हुए हैं। यहाँ पर इस काल में खुले साँचे प्रयुक्त होते थे।

II. ताम्र धातुकर्म का प्रसार

धातु युगों के सम्बन्ध में फौर्ब्स ने उनकी तकनीक के महत्त्व पर ही बार-बार बल दिया है। ताम्र की सुघट्यता (Plasticity) और आघातशीलता की सहज प्रारंभिक खोज

अनेक स्थलों पर स्वतंत्र रूप से संभव थी। लेकिन अयस्क प्रगलन, धातु की गढ़ाई और ढलाई आदि अधिक जटिल धातु शिल्पों का प्रसारण, संभवतः केवल एक या कुछ केन्द्रों से ही हुआ होगा। ऐसी जटिल खोज बहुत से स्थानों में स्वतंत्र रूप से संभव नहीं हो सकती।

ताम्र शिल्प की अपेक्षा ताम्र का प्रचार व प्रसार व्यापारियों द्वारा दूरस्थ प्रदेशों में पहले हुआ होगा। स्वाभाविक था कि शिल्पियों की अपेक्षा व्यापारी और पैकार विभिन्न क्षेत्रों में पहले पहुँचते।

नीचे हम ईरानी केन्द्रों से पश्चिम में और पूर्व में भारतवर्ष की ओर धातुकर्म प्रसारण का वर्णन करेंगे।

ताम्र शिल्प का प्रसार ईरान से मेसोपोटामिया तथा अनातोलिया तक फैला था। मेसोपोटामिया में इसके विकास का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। ट्राय से धातुकर्म के उदाहरण स्तरीकृत रूप में मिले हैं। ट्राय की ऊपरी सतह से (लगभम 4000-2800 ई. पूर्व) ताम्र की सूइयाँ व चाकू मिले, तो द्वितीय काल (लगभग 2800-3200 ई.पू.) से कांस्य (8-11% टिन) तथा अन्य धातु उपकरण उपलब्ध हुए। वे धातु उपकरणों के गढ़ने में कुशल होते हुए भी स्वयं ताम्र प्रगलन नहीं करते थे। पूरी तीसरी सहस्राब्दी भर अनातोलिया मेसोपोटामिया की ताम्र शिल्पविधियों व प्रवीणता का संग्रह-केन्द्र बना रहा।

3000 ई. पूर्व से कांस्य धातुकर्म की तीव्रगति से विकास होने के फलस्वरूप अयस्क भण्डारों की खोजों को बल मिला। ट्राय तथा निकटवर्ती केन्द्रो ने डेन्यूब तटीय लोगों को धातुकर्म में अधिक प्रभावित किया। 2200 ई. पूर्व तक ट्राय के व्यापारी वियना तथा बोहेमिया तक पहुँचने लगे। यह तकनीक योरोप में डेन्यूब के मुहाने पर स्थित हाल्सपौंट से प्रसारित हुई। ट्रांसकाकेसिया से हंगरी के मैदानों में धातुकर्म का प्रसार और भी पहले शुरू हो गया था। पश्चिम में धातुकर्म-ज्ञान स्पेन तथा पुर्तगाल तक फैला। 2500 ई. पूर्व तक आईबेरियन प्रायद्वीप में पूर्णतः ताम्र आधारित संस्कृति स्थापित हो चुकी थी। लगभग 2200 ई. पूर्व तक मध्य योरोप में ताम्र की वस्तुओं का क्रय-विक्रय होने लगा था। लगभग 2200 से 2000 ई. पूर्व ट्रांसिल्वानिया और स्लोवाकिया की कोर्पथियन पहाड़ियों, पूर्वी आल्प्स बाल्कन तथा बोहेमिया और सैक्सोनी की पहाड़ियों में ताम्र प्रगलन के केन्द्र व्यापक रूप से स्थापित होने लगे थे। इस प्रकार मध्य योरोप के विशाल क्षेत्र में ताम्रयुगीन संस्कृति प्रसारित हो गयी। इंग्लैण्ड में लगभग 1900 ई. पूर्व के बाद ही ताम्र का प्रसार हुआ। संभवतः आइबेरिया के ताम्रकर्मियों द्वारा ही ब्रिटेन में धातुकर्म का प्रादुर्भाव हुआ। टाइलकोट का कथन है कि दो सहस्र ई. पूर्व के लगभग आईबेरिया परंपरा के धातुकर्मियों का एक समूह आयरलैंड में आकर बस गया। इन्हीं के साथ दक्षिणी और पूर्वी इंग्लैण्ड के 'बीकर' आक्रामक संपर्क में आये। हाल में रेंफ्रू ने योरोप में धातुकर्म की उत्पत्ति एशिया से भी प्राचीन प्रतिपादित की है। उनका मुख्य आकर्षण कार्बन तिथियों का शोधन है जो कि अभी तक एक विवादास्पद विषय बना है।

अब हम पूर्व की ओर धातुकर्म के प्रसार पर दृष्टिपात करेंगे। सिंधु और बलूचिस्तान

की प्रागहड़प्पा संस्कृतियों की अपेक्षा ईरान में धातुकर्म के क्रमिक विकास का अध्ययन विस्तारपूर्वक किया गया है। स्याल्क में कौगलन ने धातुकर्मीय विकास का पूर्ण अनुक्रम खोज निकाला है। स्याल्क काल I व II के प्रारंभ में ठंडे धातु को ही हथौड़िया कर हथियार बनाये जाते थे। प्रकाल $III_{,4}$ में खुले साँचों में ताम्र ढाला जाने लगा था। बंद मुँह के दोहरे सांचों का चलन काल $III_{,5}$ से हुआ। काल IV में लुप्त मोम (Lost wax) पद्धति द्वारा भी ढलाई की जाने लगी। स्याल्क के काल I की तिथि लगभग 5000 ई. पूर्व व काल IV की लगभग 3000 ई. पूर्व है। स्पष्टतः धातुकर्म भारतवर्ष की अपेक्षा ईरान में अधिक प्राचीन है।

पूर्व व पश्चिम दोनों दिशाओं में ताम्रकर्मीय तकनीकों के प्रसार में ताल-ए-इब्लिस की सबसे प्राचीन केन्द्र के रूप में निर्णायक भूमिका रही है। किरमान की पहाड़ियाँ ताम्र अयस्क से भरपूर हैं। ताल-ए-इब्लिस से प्राप्त मेसोपोटामिया के जैसे (लगभग 2800 ई. पूर्व) प्रवणित किनारे वाले (bevelled rim) कटोरों से ज्ञात होता है कि अयस्क और धातुओं का व्यापार दूरस्थ प्रदेशों में परस्पर होने लगा था।

ताल-ए-इब्लिस के पूर्व में, बालुक घाटी में स्थित दारुई और तप्पा-ए-नूरामाद से स्टाइन को कुछ मृद्भांड मिले थे, लांबर्ग-कार्लोवस्कों के मतानुसार इनकी समानता चाह हुस्सैनी (बामपुर) और राना घुंडई काल I और II के मृद्भांड से की जा सकती है। इन प्रमाणों से ज्ञात होता है कि इन केन्द्रों से होते हुए ताम्रकर्मीय तकनीकों का प्रसार भारतवर्ष में हुआ।

यह ज्ञात नहीं है कि बलूचिस्तान में इन तकनीकों का आगमन मकरान से हुआ या अफगानिस्तान से। डेल्स के चरण C के अंतर्गत (हमारे मतानुसार लगभग 3300-3000 ई. पूर्व) इस क्षेत्र में धातु की खोज हो चुकी थी। द्यूपरी को देह मोरासी प्रकाल III_z से खोखली ताम्र की नलिएँ मिली हैं जो हिस्सार काल II के समतुल्य हैं।

पहले ही उल्लेख किया गया है कि अफगानिस्तान में मुंडीगाक के धातुकर्म का विकास एक पूर्ण अनुक्रम में मिला है। काल I के स्तर से ताम्र के मोड़दार फलक व प्रकाल I_5 से एक सूआ उपलब्ध हुआ है। प्रकाल II_3 से भालाग्र, मरगोल सिरे वाले सुए (internaly voulted spiral-headed pin) व छेदवाली सूइयाँ मिली हैं। इस प्रकार के भाले की नोकें काल IV तक प्रचलित रहीं। लांबर्ग कार्लोवस्की ऐसे हथियारों को रीढ़दार डाँसवाली कटार (tanged dagger with mid-rib) के नाम से संबोधित करते हैं; जबकि उसमें रीढ़ है ही नहीं। काल III_6 काल में टिन-मिश्रण के प्रमाण मिले हैं, लेकिन विश्लेषण से ज्ञात होता है कि प्रकाल I_5 में, प्रकाल III_6 की अपेक्षा अधिक टिन की मात्रा थी। काल III से अधिक ताम्र उपकरण मिले हैं जैसे हत्थे के लिए छेद वाले कुल्हाड़े, बसूले (III_6), बिना रीढ़वाली भाले की नोकें, एक हंसिया फलक आदि, IV_3 से द्विमरगोल सिरे वाले सुए, नतोदर चक्रिका, (IV_1) मत्स्य कांटे और भाले के मोड़दार फलक के साथ (IV_2) अन्य उपकरण मिले हैं। काल V के स्तर से अधिक धातु उपकरण उपलब्ध नहीं हुए। प्राप्त उपकरणों में अधिक बाणाग्र हैं। बलूचिस्तान से बहुत थोड़ी संख्या में स्तरित धातु-उपकरण मिले हैं। इस्पेलेन्जी टीला I और क्वेटा से क्वेटा-मृद्भांडों के साथ ताम्र शिल्प उपकरण भी उपलब्ध हुए हैं। कुछ

ताम्र के टुकड़े दंब सदात काल II और काल III के स्तर से प्राप्त हुए।

डेल्स ने अपने चरण D के अंतर्गत मुख्यतः सिंधु की प्राग्हड़प्पा संस्कृतियों के स्थलों जैसे कोटदीजी, कालीबंगन तथा बलूचिस्तान को रखा है। कोटदीजी के प्राग्हड़प्पा स्तर से ताम्र की केवल एक वस्तु मिली है। आम्री से हस्तनिर्मित मृद्भांडों और टोगाउ C ठीकरों के साथ केवल एक धातु का टुकड़ा, कालीबंगन काल I से दो-तीन टुकड़े, कुल्ली से एक दर्पण, पिन और चपटी कुल्हाड़ी, और निंदोवारी से केवल एक चूड़ी मिली है। अन्य स्थलों से धातु के उपयोग मात्र का आभास होता है। नाल की कब्रों और डी तथा एफ क्षेत्रों से पर्याप्त मात्रा में धातु के चाकू, फलक, चूड़ियाँ, कुल्हाड़ियाँ आदि मिले हैं।

उपर्युक्त सर्वेक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि सिंध में ताम्रकर्मीय तकनीकों का प्रसार, ईरान से अफगानिस्तान होते हुए बलूचिस्तान के माध्यम से हुआ होगा। ताम्र धातुकर्म का ज्ञान सिंध में ईरान से 1500 साल बाद लगभग 2400 ई. पूर्व हुआ। प्राग्हड़प्पा संस्कृतियों की अपेक्षा हड़प्पा काल में एकाएक प्रचुर संख्या में विविध प्रकार के हथियारों का प्रादुर्भाव हुआ। धातुकर्म प्रसार के उपर्युक्त स्पष्ट मार्ग एवं हड़प्पा संस्कृति की अपेक्षाकृत परवर्ती तिथि से सिद्ध होता है कि हड़प्पा में धातुकर्म की स्वतंत्र उत्पत्ति नहीं हुई। इसकी पुष्टि इस बात से होती है कि हड़प्पा संस्कृति में प्रारंभ से ही धातुकर्म तकनीकें पूर्ण रूप से विकसित अवस्था में पायी गयी हैं। इसलिए स्वतंत्र विकास का प्रश्न ही नहीं उठता।

III. प्राचीन भारत में अयस्क और खनन

क- ताम्र अयस्क

ताम्र जल, मिट्टी व अयस्कों में मिलता है। प्राकृत ताम्र, ताम्र और लौह अयस्कों की ऊपरी सतहों से उपलब्ध होता है। भारतवर्ष में मुख्यतः निम्नलिखित ताम्र खनिज मिलते हैं।

1. कैल्कोपाइराइट ($Cu_2SFe_22S_3$) 34.6 % ताम्र
2. कैल्कोसाइट (Cu_2S) 79.8 % ताम्र
3. बोरनाइट (Cu_3FeSO_4) 55.5 % ताम्र
4. टेट्राहैड्राइट ($4Cu_2S\ Sb_2S_3$) 51.1 % ताम्र
5. कोबेल्लाइट (CuS) 66.5 % ताम्र
6. मैलाकाइट ($CuCO_3Cu(OH)_2$) 57.3 % ताम्र
7. एज्युराइट ($2CuCO_3Cu\ (OH)_2$) 55.1 % ताम्र

सिंगभूमि की ताम्र पट्टी 130 किलोमीटर लंबे और 8 कि.मी. चौड़े क्षेत्र में फैली है। 1959 में किये गये अनुमान के अनुसार इसके ·38 लाख टन ताम्र अयस्क में औसतन 2.47% ताम्र हैं। नवीन खोजों के अनुसार पत्थरधोरा, सूर्धा, केंडडीह, रोअम-सिद्धेश्वर के ताम्र खानों का पता चला है। आन्ध्र में भी गुंटूर के दक्षिण आरकोट और हसन जिले में

ताम्र अयस्क मिला है। गुंटूर की ताम्र भण्डार पट्टी 48 किलोमीटर लम्बी है। जबलपुर के क्षेत्र में डोलोमाइट में पतली कैल्कोपाइराइट और टेट्राहेड्राइट खनिजों की नसें हैं। राजस्थान से लगभग सभी क्षेत्रों में ताम्र अयस्क मिले हैं। इस प्रदेश की झुनझुना जिले की खेत्री सिंधाना खान जो कि लगभग 80 किलोमीटर लम्बी है, सबसे महत्त्वपूर्ण है। इस पट्टी के मर्दान कुरान क्षेत्र में, 2 करोड़ 80 लाख टन के अयस्क भण्डार में 0.8 प्रतिशत ताम्र है, और दरीबो क्षेत्र के 3 लाख टन अयस्क भण्डार में 2.5 ताम्र है। इस क्षेत्र में चालकोपाइराइट खनिज पाया जाता है। मजूमदार और राजगुरु और श्री निवास आदि के विवरणों के आधार पर महत्त्वपूर्ण राजस्थानी ताम्र अयस्क भंडारों का नीचे थोड़ा विस्तार से वर्णन करेंगे।

ख-मुख्य ताम्र अयस्क भंडार

(i) खेती सिंघान (जिला जयपुर) के बाहर लाखों टन धातुमल के ढेर लगे हैं। यहाँ पर कैल्कोपाइराइट अयस्क का प्रयोग किया जाता रहा जिसमें ताम्र 0.75 से 4% तक मिलता है।

(ii) खोदरीवर (जिला अलवर) में अयस्क फाईलाइट चट्टानों में नसों के रूप में मिलता है और प्राचीन धातु-मल के ढेर भी मिले हैं।

(iii) दिल्वारा किरीली (जिला उदयपुर) क्षेत्र से दिल्वारा कोत्री, विलोटा और किरोली में प्राचीन खुदानें मिली हैं। दिल्वारा और किरौली में प्रचुर मात्रा में धातुमल के ढेर प्राप्त हुए हैं। कैल्कोपाइराइट और मैलेकाइट (6.8% ताम्र) यहाँ के मुख्य खनिज हैं।

(iv) देवारी (जिला उदयपुर) क्षेत्र से कैल्कोपाइराइट, कुप्राइट, एजुराइट और बोरनाइट मिलते हैं। राजगुरु और मजूमदार ने इस क्षेत्र में कई अन्य स्थलों का भी वर्णन किया है। राजस्थान के भ्रंश मंडल (fault zone) में होने के कारण ही यहाँ अधिकांश अयस्क भंडार स्थित हैं। अधिकांश प्राचीन खानें क्वार्ट्जाइट (स्फटिक) चट्टानों पर स्थित हैं। राजगुरू व मजूमदार के अनुसार इस क्षेत्र से मिला धातुमल विभिन्न आकार, माप, रचना, घनत्व आदि का है। यह फेन सदृश कांच जैसे हल्के रूप से लेकर भारी लोह युक्त प्रकार तक है। इन ढेरों से ताम्र प्रगलन के अन्य प्रमाण (मूषा आदि) भी मिले हैं। इसी प्रकार का फेनल काचाभ धातुमल अहाड़ में भी पाया गया, जिसका विश्लेषण हेग्डे ने किया है।

श्री निवास के अनुसार मौर्य काल से खेती, ताम्र भंडार का खदान होता रहा है। अब्दुल फजल (1590 ई.) ने भी इन खानों का वर्णन किया है और वर्तमान काल में कैप्टन वैल्यो (1830 ई.) ने सर्वप्रथम इन खानों का पता लगाया। सनाह उल्लाह के मतानुसार सिंधु सभ्यता के संभावित ताम्र स्रोत, बलूचिस्तान में शाह मकसूद और कालिहजेरी, ईरान में अबारक और भारतवर्ष में अजमेर, सिरोही, मेवाड़ और जयपुर हो सकते हैं। इनके अतिरिक्त पास्कों ने भी अन्य स्थलों का वर्णन किया है। उनके विचार से सान्निध्य के कारण जयपुर जिला, शाह मकसूद और राबात संभवतः सिंधु सभ्यता के ताम्र के स्रोत रहे हों।

फोर्ब्स के मतानुसार प्राचीन काल में ताम्र प्रगलन शान राज्य, इंदौर नैल्लौर, किस्तना जिले में काठियावाड़ में रूपवती, उत्तरी गुजरात में अंबर माता और कुंभारिया तथा नेपाल में होता था। पर यह निश्चित नहीं है कि ये धातुकर्म यहाँ यूनानी काल से पूर्व भी होता था। कुंभारिया की खानों की कार्बन तिथि केवल एक हजार साल पुरानी है। ताम्र भंडार की ये पट्टी पूर्व में ईरान से होती हुई कैस्पियन सागर और ट्रांसकाकेसिया से भी आगे तक चली गयी है। इसके अंतर्गत काबुल के निकट बाभिआन, काफिरिस्तान आदि प्राचीन खानें हैं। अस्तराबाद के निकट, कालेह और एल्बुर्ज पहाड़ियों में ताम्र खानें हैं। कशान, कोहुन्द और इस्फ़हान जिलों में भी अनेक महत्त्वपूर्ण खाने हैं। मैलोवन ने मगन के प्राचीन ताम्र पूर्ति केन्द्र जगरोस पहाड़ों और ईरान की खानों को माना है। मैके का विचार है कि सिंध में ताम्र का आयात संभवतः ईरान से हुआ, क्योंकि वहाँ टीम व ताम्र अयस्क बहुधा से उपलब्ध है। डेस्क ने मोहनजोदड़ो से प्राप्त एक आक्साइड अयस्क का विश्लेषण किया था।

ताम्र की ढलाई को सुधारने के लिए उसमें टिन और संखिया मिलाया जाता था। अब हम टिन, संखिया और सीसे के अयस्क भंडारो का वर्णन करेंगे।

ग. टिन अयस्क

टिन का मुख्य अयस्क कैस्सिटेराहट है जिसमें 78.6% तक टिन होता है। लेकिन यह अयस्क, स्फटिक के अंदर पतली नसों के रूप मे ऐसा मिला होता है कि केवल 0.2 से 2. 0% टिन तक ही इसमें उपलब्ध हो पाता है। ऐसी नसों के रूप में टिन ग्रेनाइट चट्टानों में काफी होता है और धीरे-धीरे चट्टानों के विघटन से मिट्टी में घुल-घुलकर नदियों की मिट्टी में मिलता रहता है।

एशिया माइनर में दारमन लार, मुरादबाग और कस्तमुनि, काकेशस और ट्रांसकाकेसिया क्षेत्र में बेलारिया नदी की घाटी, एल्बुर्ज और टेरेक पहाड़ियों के मध्य के क्षेत्र, गौरी क्षेत्र, और कारादाग पर्वत, ईरान में टाबरिज के निकट कूह-सेहेंद, अस्तराबाद और दमगन के निकट कूह-ए-बेनान और एशिया में बेकल झील के समीप, बर्मा और मलाया से बिल्लोटोन तक टिन की मुख्य प्राचीन खाने थीं।

घ. भारतवर्ष के टिन अयस्क

यद्यपि देश में प्रतिवर्ष टिन की खपत 4500 टन से भी ज्यादा है, तथापि यहाँ टिन का उत्पादन नहीं के बराबर है। बिहार में हजारीबाग, रांची, गया, गुजरात में बनासकांटा, मैसूर में धारवार, राजस्थान में भिलवाड़ा में टिन अयस्क भंडारों का पता चला है। परंतु ये सब खानें आर्थिक दृष्टि से लाभदायक नहीं हैं। प्राचीन भारत में टिन खदान का कोई संकेत नहीं मिलता। संभवतः नदी की बालू में मिली टिन ही का प्रयोग किया जाता था। यह भी संभव है कि सिंध में खुरासान और कारदाग की खानों से टिन का आयात हुआ हो।

ङ. संखिया के अयस्क

संखिया के दो अयस्क मैनसिल और हरताल आज भी देश में आयात होते हैं। पश्चिमी बंगाल, राजस्थान, कश्मीर और बिहार में संखिया उपलब्ध है। लेकिन ये अयस्क आर्थिक दृष्टि से खनन योग्य नहीं है।

सिंधु सभ्यता के ताम्र उपकरणों में भी, संखिया पर्याप्त मात्रा में है। यदि संखिया 1% से कम हो तो यह निश्चित नहीं किया जा सकता कि यह ताम्र अयस्क के कारण है या लैलिंगाइट जैसे अयस्कों के। लेकिन 1% से अधिक संखिया का मिश्रण निस्सन्देह पूर्व आयोजित समझा जा सकता है।

च. सीसे का अयस्क

कहा जाता है कि राना लखन सिंह (1382-97 ई.) के समय से जाबर में सीसे का खदान होता रहा है। यद्यपि सीसे की खानें कुर्नुल, आग्निगुंडाला (गुंटूर), कश्मीर, बरौला व अल्मोड़ा आदि में भी हैं पर आर्थिक दृष्टि से जावर की खान ही उपयोगी है।

ताम्र को अधिक गलनीय बनाने के लिए ताकि ढलाई में सुगमता रहे उसमें सीसा मिलाया जाता था। हड़प्पा तथा अन्य ताम्राश्मीय स्थलों के ताम्र उपकरणों में यह पर्याप्त मात्रा में मिलता है।

सिंधु सभ्यता के स्थलों से अनेक सीसे के उपकरण व अयस्क मिले हैं। मोहनजोदड़ो के अयस्क के हमारे विश्लेषण से ज्ञात हुआ है कि उसमें केवल एंटिमनी और सीसा है।

IV-प्राचीन अयस्कों और खनन क्षेत्रों की खोज

पहले हम अयस्कों के प्रकारों को निश्चित करने का प्रयत्न करेंगे (इन आपेक्षित संभावनाओं के परिकलन का वर्णन अग्रवाल की पुस्तक (Copper Bronze Age in India) में किया गया है।)

हड़प्पा में केवल आक्साइड अयस्क (मैलाकाइट) के प्रयोग की संभावनाएँ अधिक हैं। परन्तु मोहनजोदड़ो के प्रारंभिक काल से ही सल्फाइड अयस्क का प्रगलन किया जाता था। मोहनजोदड़ो और रंगपुर में संभवतः प्राकृत और आक्साइड अयस्क सामान्यतः प्रयोग किया जाता था। मोहनजोदड़ो से (D.K. क्षेत्र, कमरा नं. 51 के एक गढ़े में) प्रचुर मात्रा में ताम्र आक्साइड अयस्क के साथ कुछ सीसा भी मिला है। यद्यपि प्रारंभ से ही सल्फाइड अयस्क से शुद्ध ताम्र निकाला जाता रहा था, फिर भी इस खोज से स्पष्ट हो जाता है कि सिंध में आक्साइट अयस्क का प्रयोग प्रगलन के लिए आमतौर पर किया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि सैंधव लोग प्राकृत और आक्साइड अयस्कों का प्रयोग शायद नयी-नयी खानों के सुलभ होने के कारण करते थे। साधारणतया ताम्र के प्राकृत और आक्साइट रूप, खान की ऊपरी सतह से प्राप्त होते हैं। अतः प्राकृत व आक्साइड रूपों की प्रचुरता नयी खानों के

उपयोग का आभास देती है। रंगपुर में केवल प्राकृत व आक्साइड धातुओं का प्रयोग नयी खानों (काठियावाड़ में रूपवती) के उपयोग की ओर इंगित करती है।

ताम्राश्मीय शिल्प उपकरणों में आक्साइड अयस्कों के प्रयोग की अधिक संभावनाएँ हैं। अब तक प्राप्त 12 उपकरणों के विश्लेषण से सल्फाइड अयस्कों के प्रयोग की संभावनाओं का आभास नहीं मिलता।

ताम्राश्मीय संस्कृतियों का धातुकर्म, इसकी अनगढ़ ढलाई, उपकरणों का सादा आकार, सिंधु सभ्यता की तुलना में धातु की न्यूनता, संखिया-मिश्रण व सल्फाइड अयस्क प्रगलन की अनभिज्ञता, व टिन के अल्प अंश (5% से कम) आदि के कारण, हड़प्पा संस्कृति के विकसित धातुकर्म ज्ञान से काफी भिन्न है। हड़प्पा संस्कृति और ताम्राश्मीय संस्कृतियों की धातुकर्म-परंपराओं की स्पष्ट भिन्नता इस बात का द्योतक है कि हड़प्पा संस्कृति ने इस परवर्ती संस्कृतियों को तकनीकी ज्ञान में विशेष प्रभावित नहीं किया। सैंधव स्तर की तुलना में ताम्राश्मीय धातुकर्म और शिल्प काफी पिछड़ा लगता है। चित्रित धूसर मृद्भांड और नवाश्मी युग के ताम्र उपकरणों के विश्लेषण इतने कम हैं कि उनसे अयस्कों के उपयोग के विषय में कुछ पता लगाना दुस्साध्य है।

विभिन्न संस्कृतियों के तत्कालीन क्षेत्रों को निश्चित करने के लिए बड़ी संख्या में नमूनों की आवश्यकता है, जबकि अब तक केवल कुछ ही अयस्क प्राप्त हुए हैं जिनकी जाँच की गयी है। केवल खेत्री और सिंगभूम, मद्रास व मोहनजोदड़ो से प्राप्त अयस्कों के ही विश्लेषण अब तक प्राप्त हैं। सिंगभूमि के पाइराइट में संखिया, एंटीमनी और सीसा नहीं है, जब कि ये सैंधव शिल्प उपकरणों में पर्याप्त मात्रा में हैं।

सैंधव उपकरणों की विविध अयस्कों से तुलना करने पर ज्ञात हुआ कि खेती अयस्कों और सैंधव उपकरणों की अशुद्धियों में निकट का साम्य है। सिंहभूमि के कैल्कोपाइराइट और मद्रास के पिरहोटाइट और सैंधव अशुद्धियों में बहुत सी असमानताएँ हैं। अब तक के थोड़े से विश्लेषणों के आधार पर यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि खेत्री ही संभावित सैंधव ताम्र खनन क्षेत्र रहा होगा। इसकी पुष्टि अधिकांशतः प्राकृत और आक्साइड अयस्कों के प्रयोग से भी होती है, जो प्रचुर मात्रा में एक नवीन खान के ऊपरी हिस्से से ही उपलब्ध हो सकते थे। वैसे भी सिंहभूमि की दूरी व दुर्गमता उसके सैंधव ताम्र स्रोत होने की संभावनाओं को असंभव बना देती है।

दूसरी ओर, ताम्राश्मीय संस्कृतियों के शिल्प और क्षेत्रीय अयस्कों की स्पेक्ट्रमी विश्लेषणों की तुलना दर्शाती है कि उनमें भी पर्याप्त समानताएँ हैं। लेकिन निश्चित निष्कर्ष निकालने के लिए पर्याप्त नमूनों का विश्लेषण करना अति आवश्यक है। उपर्युक्त विश्लेषणों के आधार पर अभी यही कहा जा सकता है कि राजस्थान के ताम्र अयस्कों का उपयोग हड़प्पा व ताम्राश्मीय दोनों संस्कृतियाँ ही करती रहीं। पुरालेखों के अनुसार मेसोपोटामिया में मेलुहा से ताम्र आयात किया जाता था। यदि मेलुहा भारतवर्ष में था तो राजस्थान के प्रचुर अयस्क भंडारों का खनन ही यह संभव बनाता है कि यहाँ से प्राचीन ईराक को ताम्र निर्यात होता रहा हो।

V-ताम्र प्रगलन व धातु मिश्रण

म. प्रगलन

फोर्ब्स के अनुसार ताम्र धातुकर्म का विकास निम्नलिखित चरणों में हुआ होगा।

प्रथम चरण- प्राकृत ताम्र को हथौड़िया कर, काट कर, मोड़ कर, घिस कर व चमका कर आकार देना।

द्वितीय चरण-प्राकृत ताम्र को गर्म लाल करके हथौड़िया कर तापानुशीतन करना।

तृतीय चरण-आक्साइड और कार्बोनेट अयस्कों का प्रगलन। मिट्टी से लिपी हुई भट्टी में कोयले या लकड़ी जला कर अयस्कों का प्रगलन। इस क्रिया में शुद्ध ताम्र प्रायः अलग हो जाता है और धातुमल फेंक दिया जाता है।

चतुर्थ चरण-ताम्र का द्रवीकरण और ढालना। मूषा में ताम्र गला कर साँचों में ढाला जाता था।

पंचम चरण- सल्फाइड अयस्क पहले गंधक निकालने के लिए भूना जाता है। फिर भूना हुआ अयस्क भट्टी में प्रगलित किया जाता है। भूनने और प्रगलन की प्रक्रियाएँ दोहराई जाती हैं ताकि उत्तरोत्तर शुद्ध लाभ प्राप्त हो सके और धातुमल निकाला जा सकें अंत में शुद्ध ताम्र के उपकरण ढालने आदि से बनाये जाते हैं। इस प्रकार 99.5% शुद्ध ताम्र उपलब्ध किया जाता है। हवा धौंकने से ताम्र आक्साइड बनने के कारण ताम्र भंगुर हो जाता है अतः यदि द्रवित धातु में कच्चा (हरी) तना या डाल डाली जाय तो यह एकदम आग पकड़ लेती है और उससे अनेक हाइड्रोकार्बन गैसें निकलने लगती हैं। फलस्वरूप ताम्र आक्साइड का अपचयन (Reduction) हो जाता है। इस प्रक्रिया को पोलिंग कहते हैं। ताम्र उत्पादन के लिए उचित पोलिंग अति आवश्यक है। हमारी ताम्राश्मीय संस्कृतियों के उपकरणों में ताम्र आक्साइड की उपस्थिति इस बात का द्योतक है कि उन्हें 'पोलिंग' का पूर्ण ज्ञान नहीं हुआ था। जब से सल्फाइड अयस्कों का उपयोग होने लगा तब से ही ताम्र उपकरणों में अशुद्धता की वृद्धि होने लगी।

ख. धातु मिश्रण

ताम्र की ढलाई के गुणों को सुधारने के लिए उसमें धातु मिश्रित किये जाते हैं। धातु जब गर्म किये जाते हैं तो वे गैसों को आत्मसात कर लेते हैं। शुद्ध ताम्र ढालने पर ऐसी आत्मसात गैसें छोड़ता है। इससे ढले हुए उपकरण में छोटे-छोटे छेद हो जाते हैं। टिन और संखिया मिलाने से ताम्र में गैस बहुत कम रह जाती है। बिना धातु-मिश्रण के जटिल उपकरणों का ढालना संभव नहीं है।

1.04% संखिया मिलाने से हथौड़ियाने से ही शुद्ध ताम्र की कठोरता 124 से बढ़कर 127 (ब्रिनेल इकाइयाँ) हो जाती है। केवल हथौड़ियाने से ही शुद्ध ताम्र की कठोरता 87 से 135 (ब्रिनेल) बढ़ जाती है जो काँसे की कठोरता के समतुल्य है। लेकिन धार तेज करने

के लिए बार-बार हथौड़ियाने की आवश्यकता पड़ती है जिसके फलस्वरूप हथियार बिलकुल भंगुर हो जाता है। शुद्ध ताम्र की अपेक्षा हथौड़ियाने से कांस्य अधिक कठोर बन जाता है। 8.12% टिन का मिश्रण ताम्र के लिए सर्वोत्तम है।

प्राचीन काल के कांस्य की व्याख्या में विद्वानों में मतभेद है। कोगलन के मतानुसार कांस्य में 5 से 15% टिन होना चाहिए। इससे कम टिन की उपस्थिति को वह आकस्मिक समझता है जबकि टाइलकोट सभी धातु मिश्रणों को जिससे 1% से अधिक टिन को कांस्य की श्रेणी में रखता है। गोवलैंड और बर्टन के दावे के बावजूद थामसन 1% से कम टिन या संखिया वाले ताम्र को जानबूझ कर बनाया कांस्य नहीं मानता। ऐसा मिश्रण अशुद्ध अयस्कों के प्रयोग के कारण हो सकता है।

अब नीचे पश्चिमी एशिया में कांस्य उत्पादन तथा इस तकनीक के सर्वप्रथम भारत की पश्चिमी सीमा में प्रसार के इतिहास पर प्रकाश डालेंगे।

(i) एशिया में धातु मिश्रण

ट्राय प्रथम, थर्मी प्रथम, अलिशार प्रथम और टेपे गावरा अष्टम के 2500 ई. पूर्व से भी पहले के यत्र तत्र फैले कांस्य भंडारों में 10% टिन मिश्रण है। इससे स्पष्ट होता है कि इस प्राचीन काल में भी कुछ क्षेत्रों में धातु मिश्रण पर प्रयोग होने लगे थे। ज्योय टेपे K काल में संखिया का उच्च अंश, कांस्य के लिए धातु मिश्रण का ज्ञान दर्शाता है। संभवतः ताम्र को कठोर बनाने व उचित रीति से ढालने के लिए संखिया जानबूझ कर मिलाने का विचार ज्योय टेपे में G काल के लोगों के आगमन के साथ हुआ। उर की राजकीय कब्रों के कांस्य में 0.5 से 14.5% तक टिन मिश्रित है। प्रारंभिक कांस्य में हर प्रकार की अशुद्धियाँ हैं, जब कि परवर्ती काल में नहीं हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे ये कांस्य शुद्ध पोलिंग किये ताम्र व टिन अयस्क मिलाकर बनाये गये थे, संखिया व एंटीमनी के स्थान पर टिन का प्रयोग निश्चित रूप से प्रयोगात्मक कहा जा सकता है।

परवर्ती काल में ताम्रकर्मियों ने ताम्र के साथ सीसा मिश्रण करके द्रवणांक को नीचे लाने की विधि ज्ञात कर ली थी। इसीसे लुप्त मोम की ढलाई संभव हो सकी। लेकिन टिन और कांस्य मिश्रण के उदाहरण कोई नहीं मिले। टिन-कांस्य के उदाहरण प्रारंभिक राजवंश (Early Dynastic) काल के ही मिले हैं। इस काल में टिन की कांस्य की मात्रा 1 से 11% तक थी। परंतु सार्गोन काल के किश और उर में पूर्वकालीन 10% टिन की अपेक्षा केवल 1% से भी कम टिन है। अतः इस काल में टिन की मात्रा अशुद्धता के कारण ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि पश्चिमी एशिया से टिन का आयात तीन सहस्र ई. पूर्व बन्द हो गया था। तीसरी सहस्राब्दि ई. पूर्व के अन्त में, बोहेमिया और सैकसोनी टिन अयस्कों के उपलब्ध हो जाने से कांस्य का उत्पादन पुनः प्रारंभ हो गया था। दर्पण की प्रतिबिंबन शक्ति प्राप्त करने के लिए रोमनों ने 23 से 28% टिन व 5 से 7% सीसा मिश्रण करने का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। टिन और सीसे का ज्ञान कुल्ली और सिंधु सभ्यता के लोगों को भी था। इन

संस्कृतियों से प्राप्त दर्पणों का विश्लेषण करना इसलिए महत्वपूर्ण होगा ताकि उनसे प्रतिबिंबन की मात्रा का अनुमान लगाया जा सके।

(ii) भारतवर्ष में धातु मिश्रण

प्राग्हड़प्पा स्थलों से अधिक विश्लेषण प्राप्त नहीं हैं। मुंडीगाक से एक अल्प टिन (1.06%) कांस्य (?) का नमूना मिला है। नाल के एक अन्य उपकरण में टिन मिश्रण नहीं है, जबकि सीसा 2.14% है। हड़प्पा संस्कृति के उपकरणों में टिन की मात्रा की विविधता अधिक है।

प्रतिशत उपकरण	70%	10%	14%	6%
टिन मात्रा प्रतिशत	1%	8%	8 से 12%	12%

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि 70% उपकरण कांस्य के नहीं थे। केवल 14% उपकरणों में ही अधिकतम कठोरता और तन्यता संभव थी, क्योंकि उनमें 8 से 12% टिन का मिश्रण है। एक कांस्य छड़ में 22% से भी अधिक टिन है। इससे स्पष्ट होता है कि यद्यपि हड़प्पा संस्कृति में धातु मिश्रण किया जाता था पर उपर्युक्त अनुपात में धातु मिश्रण के नियंत्रण का ज्ञान नहीं था। संभवतः संखिया अयस्क के रूप में मिलाया जाता था। नाल से लौह-संखिया अयस्क भी मिला है। अग्रवाल के विश्लेषण के अनुसार मोहनजोदड़ो से प्राप्त उपकरणों में ऊपरी सतह वाले 23% उपकरण कांस्य के हैं, जब कि निम्न सतहों वाले 6% से भी कम कांस्य के हैं। मुख्यतः चाकू, कुल्हाड़ियाँ व छेनियाँ टिन कांस्य की बनी हैं। लेकिन 70% ताम्र उपकरणों में टिन नहीं के बराबर है। रंगपुर के छः उपकरणों में टिन 2.6 से 11.7 है, इनमें से तीन में 1.8 से 5.8% रांगा (निकल) है। इनमें सीसा या संखिया नही है। अग्रवाल के अनुसार मोहनजोदड़ो के 117 विश्लेषित शिल्प उपकरणों में 8% उपकरणों में संखिया 1 से 7% तक, केवल 4% में निकल (रांगा) 1 से 9% तक, 6% में सीसा 1 से 32% तक मिश्रित था। हथौड़ियाने से 1 संखिया की ताम्र की कठोरता में 124 से 177 (ब्रिनेल) वृद्धि कर देता है। हो सकता है कि संखिया के इस गुण का उन्हें समुचित ज्ञान न हो। संभवतः संखिया का उपयोग ढलाई सुधारने के लिए ही किया जाता था।

ताम्राश्मीय स्थलों के ताम्र उपकरणों में संखिया नहीं है। लेकिन 1 से 2% तक सीसे का मिश्रण सामान्यतः मिलता है जो कि संभवतः उत्तम गलनशील के लिए किया गया था। जोर्वे कुल्हाड़ी में 1.7% निवासा की छेनी में 2.7% और नवदाटोली के तीनों उपकरणों में टीन 3 से 5% तक, और सोमनाथ के कुल्हाड़े में 12.8% है। उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि इन लोगों को धातु मिश्रण का ज्ञान था, यद्यपि सोमनाथ के अतिरिक्त अन्य किसी स्थल के उपकरण में टिन की उच्चतम मात्रा 8% से 12% के बीच नहीं है। अहाड़ के उपकरणों में टीन की अनुपस्थिति महत्त्वपूर्ण है।

न तो टैक्कलाकोटा की कुल्हाड़ी और न लांघनाज के चाकू में टिन या संखिया का मिश्रण है, न ही हस्तिनापुर के चि.घू. भांड स्तर के दो उपकरणों में। सोनकुर प्रथम काल

की एक छड़ में टिन 1.4% और द्वितीय काल की एक चूड़ी में 1.9% जब कि चम्मच की एक मूठ में यह 32% है। चिरांद के तीनों उपकरण शुद्ध ताम्र के हैं।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि टिन, सीसा व संखिया के उच्चतम मिश्रण की दृष्टि से हड़प्पा के उपकरण ताम्राश्मीय उदाहरणों से भिन्न हैं, ताम्राश्मीय स्थलों के उपकरणों में संखिया मिश्रण है ही नहीं, टिन का मिश्रण भी (सोमनाथ के कुल्हाड़े के अतिरिक्त) 5% से अधिक नहीं है।

लाल के कथनानुसार पश्चिम एशिया के हत्थेदार कुल्हाड़े, वसूले आदि के विपरीत ताम्र-संचय उपकरण शुद्ध ताम्र के हैं। वैसे स्मिथ ने कांस्य के कुछ संदिग्ध उदाहरण दिये हैं लेकिन लाल ने बिसौली मानवाकृति उपकरण (anthropomorph) का विश्लेषण करने पर उसे शुद्ध पाया (ताम्र 98-77%; निकल 0.66%)। अग्रवाल ने पांच ताम्र संचय उपकरणों के नमूने का परीक्षण किया, लेकिन किसी में भी टिन नहीं था। अतः अब तक प्राप्त प्रमाण लाल के मत को पुष्ट करते हैं कि ताम्र संचय वाले लोगों को धातु मिश्रण का ज्ञान नहीं था। स्मिथ के अधिकांश नमूने ब्रिटिश संग्रहालय से लिये गये हैं, जिनका निश्चय स्थान ज्ञात नहीं है अतः वे अधिक विश्वसनीय नहीं है।

प्राप्त सीमित तथ्यों के आधार पर फिलहाल निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

(i) हड़प्पा संस्कृति में टिन, संखिया व सीसे का प्रयोग होता था।

(ii) बनास संस्कृति वाले केवल सीसा मिश्रित करते थे।

(iii) मालवा और जोर्वे संस्कृति में टिन और सीसे का प्रयोग होता था।

(iv) ताम्र-संचय संस्कृति के लोग केवल शुद्ध ताम्र का प्रयोग करते थे।

VI- धातु शिल्प

यहाँ हम धातु गढ़ाई व ढलाई की तकनीकों का अध्ययन करेंगे। प्रत्येक संस्कृति की अपनी विशिष्ट तकनीकें हैं जिनके अध्ययन द्वारा ही हम प्रागैतिहासिक संस्कृतियों के बीच समानताओं व असमानताओं को समझ सकते हैं। पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि ईरान व ईराक की अपेक्षा भारत में धातु-शिल्प का ज्ञान बहुत परवर्ती है। सैंधव संस्कृति में हमें एकाएक पूर्ण विकसित धातु-शिल्प तकनीक देखने को मिलती है, अभी तक अपने देश में उत्खनन इस प्रकार के धातुकर्मी और धातुशास्त्रीय विश्लेषण में रुचि नहीं लेते रहे, जिसके कारण नमूनों का बहुत अभाव है। इसलिए निम्न अध्ययन प्राप्त सीमित आंकड़ों के आधार पर ही किया है।

मैके ने ताम्र बर्तनों पर पीटने के निशान देखे हैं। इसी प्रकार चाकुओं, भालों, तीरों, उस्तरों आदि पर भी पीटने और हथौड़ियाने के चिह्न इन तकनीकों के प्रयोग दर्शाते हैं। 'कोल्ड वर्क' अथवा ठंडे धातु को पीट कर उपकरण बनाने की तकनीक के प्रमाण सैंधव

और ताम्राश्मीय दोनों संस्कृतियों में मिलते हैं। तापानुशीतन की तकनीक का प्रयोग हड़प्पा संस्कृति व ताम्राश्मीय संस्कृतियों दोनों में हुआ है। परन्तु ताम्र-संचय संस्कृति के उपकरणों में अभी तक इस तकनीक के प्रयुक्त किये जाने के उदाहरण नहीं मिले हैं।

धातु के दो या अधिक टुकड़ों को जोड़ने की अनेक तकनीकें प्रचलित थीं। हड़प्पा संस्कृति में रिवेटिंग व लैपिंग का प्रयोग होता था। यद्यपि ताम्र ढालने के कोई प्रमाण अभी तक नहीं हैं, फिर भी सोने और चांदी के ढालने के उदाहरण हड़प्पा संस्कृति से मिलते हैं।

ढलाई कई प्रकार से की जाती थी-खुले साँचों, में, साँचों के कई टुकड़ों बंद सांचों और लुप्त मोम की प्रक्रिया से। खुले हुए साँचे चांहुदड़ो से मिले हैं जिनमें चपटी कुल्हाड़ियाँ ढाली जाती थीं। ताम्र संचय के कुछ उपकरणों में दोहरे साँचे प्रयोग करने के स्पष्ट साक्ष्य हैं। सिंधु-सभ्यता से भी प्राप्त नर्तकी की प्रतिमाओं से आभास होता है कि ये लुप्त मोम विधि से ढाली गयीं थीं। इन सभी संस्कृतियों में खुले साँचे का उपयोग सर्वाधिक है।

VII- विभिन्न संस्कृतियों के धातु उपकरण

मुंडीगाक, नाल और मेही के अलावा अन्य प्राग्हड़प्पा संस्कृतियों से धातु बहुत कम मात्रा में मिली है। केवल नाल से ही बसूला, छेनी और आरियों सहित 18 उपकरण मिले हैं। स्याह दंब और अंजीरा से कोई भी धातु उपकरण अब तक उपलब्ध नहीं हुआ। दंब सदात काल II से केवल कुछ ताम्र टुकड़े और एक कटार, कोटदीजी I से केवल एक चूड़ी और कालीबंगन I से तीन उपकरण ही मिले हैं।

उपर्युक्त अन्य संस्कृतियों की अपेक्षा सैंधव सभ्यता ताम्र की दृष्टि से अधिक सम्पन्न थी। मोहनजोदड़ो के डी.के. टीले से ही केवल 14 भालाग्र; 17 बाणाग्र; 18 उस्तरे, 23 कुल्हाड़े, 53 छेनियाँ, 11 मत्स्य कांटे, 64 चाकू एक कुल्हाड़ी-बसूला, और दो तलवारें मिली हैं। इसी प्रकार चांहूदड़ो के केवल एक टीले के चार भांडारों से, प्रत्येक में 16 से 28 उपकरण मिले। इन हथियारों के अतिरिक्त अन्य सैंधव स्थलों से बहुत बड़ी संख्या में विभिन्न प्रकार के धातु-पात्र मिले हैं।

धातुकर्म की प्रचुरता नागरीकरण की भी सूचक है। मेसोपोटामिया के उरूक काल में भी एकाएक धातु के प्रचुर प्रयोग के साथ-साथ नागरीकरण का उद्भव देखते हैं। दूसरी ओर ताम्राश्मीय संस्कृतियों में अपेक्षाकृत धातु कम प्रयोग होने के कारण उनका नागरीकरण नहीं हो सका। संभवतः अविकसित धातु शिल्प ज्ञान के कारण वे अतिरिक्त कृषि उत्पादन न कर सके हों।

निम्नलिखित स्थलों से प्राप्त उपकरणों की प्रचुरता के आधार पर उन्हें ताम्राश्मीय संस्कृति के अंतर्गत रखना ही उचित ही है। नवदाटोली-छेनियाँ, 4 चपटी कुल्हाड़ियाँ, हत्थे के लिए छेदवाली कुल्हाड़ी, 2 मत्स्य, काँटे, अधूरे मनके तथा तारों के टुकड़े 1 चंदोली से 2 छेनियाँ, 1 कुल्हाड़ी, 1 कटार, 3 मत्स्य काँटे, 1 ताम्र छड़, 14 मनके, 3 चूड़ियों के टुकड़े,

1 छल्ला, और 1 टूटा हुआ पायल। कायथा से 2 मोटे ताम्र कुल्हाड़े, बहुत सी चूड़ियाँ, 1 कुरेदनी और 7 मनके। जोर्बे से 6 चपटी कुल्हाड़ियाँ और 1 चूड़ी। अहाड़ से प्राप्त धातुमल और चंदोली से मिले अनगढ़ बालू का साँचा आदि से धातुकर्म के ज्ञान का आभास होता है।

ताम्राश्मीय स्थलों की अपेक्षा दक्षिण के नवाश्मीय स्थल की ताम्र दृष्टि से समृद्ध नहीं है। उदाहरणार्थ ब्रह्मगिरि से केवल 1 ताम्र छेनी और 2 छड़ें मिली हैं।

अब हम हथियारों के विश्लेषणों के आधार पर विभिन्न संस्कृतियों की विशिष्टताओं तथा संबंधों का वर्णन करेंगे। शिल्प उपकरणों की उपर्युक्त सूची विभिन्न संस्कृतियों की महत्त्वपूर्ण विशिष्टताओं को दर्शाने के लिए ही प्रस्तुत की गयी है।

क. प्राग्हड़प्पा संस्कृतियाँ

केवल मुंडीपाक तथा नाल से प्राप्त हथियारों का वर्गीकरण यहाँ किया गया है। नाल से बसूले, आरियाँ, छेनियाँ और चाकू मिले। हड़प्पा की तुलना में नाल की छेनियाँ अधिक अनगढ़ हैं। मोहनजोदड़ो के लंबे फलकों के विपरीत नाल की कुल्हाड़ियों के सिरे गोल या नुकीले हैं। अन्य प्रकारों का उनका बहुत सामान्य होने के कारण, तुलनात्मक दृष्टि से कोई विशेष महत्त्व नहीं है। हत्थे के लिए छेदवाली कुल्हाड़ी व बसूला मेसोपोटामियाँ के उरूक काल से, हिस्सार III-सी और सूसा के पूर्व राजवंशीय (Protodynastic) काल से प्रचलित थे। इस प्रकार की हत्थे के लिए छेदवाली कुल्हाड़ियाँ, बसूला, मुंडीगाक के III 6 से मिलते हैं। इन प्रमाणों को दृष्टि में रखते हुए हड़प्पा स्तर से प्राप्त ऐसे कुल्हाड़ी-बसूला का मिलना बेमेल नहीं है इसलिए उन्हें उत्तरकालीन स्थानांतरण से नहीं जोड़ा जा सकता। यद्यपि लांबर्ग-कार्लोवस्की ने मुंडीगाक काल II से प्राप्त रीढ़दार कटार का वर्णन किया है, लेकिन कजाल, जिसने इस स्थल का उत्खनन किया, द्वारा प्रस्तुत चित्र में वह चपटी दिखायी गयी है। मुंडीगाक काल II की लहरदार सिरे वाली पिन की तुलना सैंधव नमूनों से की जा सकती है।

ख. हड़प्पा संस्कृति

कुछ विशिष्ट प्रकार के उपकरण (अध्याय 3 में वर्णित) सैंधव सभ्यता के विशेषक हैं, जैसे उस्तरे, चाकू, मुड़े सिरे के चाकू, चौड़ी डाँसवाली छेनियाँ, कटीले बाणाग्र। तराजू के लिए कमानी का प्रयोग भी अपूर्व है। कई प्रकार के उस्तरे मिले हैं जिनमे से द्वि-धार वाले एक विशिष्ट प्रकार के हैं। अन्य प्रकार हैं - L आकार के काँटेदार व सादे फलक वाले उस्तरे। चांहूदड़ो से उस्तरे के दो अन्य प्रकार, U आकार व अर्द्धचन्द्राकार के मिले हैं। चाकुओं के विभिन्न प्रकार हैं, तिकोना तथा मुड़े सिरों के पत्तों के आकार के फलक। पत्ती के आकार, संकरे, और सीधे तथा मुड़े धारवाले दराट के फलक दुष्प्राप्य हैं। मार्शल ने एक, और, मौके ने एक अन्य संदिग्ध नमूने का वर्णन किया है। मार्शल की दराट की बाह्य सिरे की धार तेज थी, जबकि भीतरी भाग कुंद था। बड़ी संख्या में विभिन्न आकार की छेनियाँ मिली हैं। केवल मोहनजोदड़ो से प्राप्त 15 छेनियों का मार्शल ने वर्णन किया, जबकि मैके

ने 67 का। वे आयताकार, वर्गाकार व गोलाकार प्रकार की लंबी व छोटी दोनों आकार की हैं। चौड़ी आयताकार नोक और संकरे फलक के प्रकार हड़प्पा संस्कृति की अपनी विशिष्टताएँ हैं।

भालाग्र और बाणाग्र बहुत पतले हैं। चाँहुदड़ो के बाणाग्र 0.02" से 0.05" की मोटी पत्तर के बने हैं। उन पर पीछे की ओर मुड़े हुए काँटे हैं। वे इतने पतले हैं कि लकड़ी के सहारे के बिना मुड़ गये होते। मैके के मतानुसार ऐसे निम्न कोटि के उपकरण सैंधव न होकर किसी अन्य विजित लोगों के रहे होंगे, लेकिन इन्हें मोहनजोदड़ों के सभी स्तरों, हड़प्पा, चांहुदड़ो, कालीबंगन और लोथन से मिलने के कारण हड़प्पा संस्कृति की ही एक विशिष्टता कह सकते हैं।

हड़प्पा, चांहूदड़ो और लोथल से बिना दाँतों की आरियाँ मिली हैं, जो बहुत कम हैं। एक नमूने में दाँते वास्तविक आरी के से लगाये गये थे, जो कि रोमन काल से पूर्व अन्य कहीं नहीं मिले । लंबे और छोटे दोनों प्रकार की फलक-कुल्हाड़ियाँ प्रयोग की जाती थीं। चपटे और हत्थे के लिए छेदवाली कुल्हाड़ियों के सादे प्रकार, सैधव स्थलों से ही नहीं बल्कि अन्य संस्कृतियों से भी उपलब्ध हुए हैं।

सैंधव संस्कृति के सभी स्थलों से मत्स्य-काँटे मिलते हैं। उनके सिरे पर एक छेद है और नुकीले सिरे पर एक काँटा। बिना काँटे के कुछ उपकरण भी मिले हैं। कहा जाता है कि ताम्राश्मीय स्थलों से भी ऐसे मत्स्य काँटे मिले हैं, पंरतु चंदोली के काँटे संदिग्ध नमूने हैं जो कि बिना तीखे सिरे व छेद या काँटे की, मुड़ी हुई छड़ें हैं। अतः उनके मत्स्य काँटे होने में संदेह है। मेसोपोटामिया या मिश्र की अपेक्षा सैंधव नमूने अधिक बढ़िया हैं।

कोगलन के अनुसार हड़प्पा के नालिकाकार बरमा प्राचीन संसार के सबसे प्रारंभिक उदाहरण हैं। मैके के अनुसार ऐसे बरमें सेलखड़ी के मनकों के बनाने में प्रयोग किये जाते थे। चाहे वे किसी भी कार्य के लिए प्रयुक्त होते हों, पर इससे इतना तो सिद्ध ही होता है कि उन्हें धातुकर्म में उच्च कुशलता प्राप्त थी।

हत्थे के लिए छेदवाला कुल्हाड़ी-बसूला बहुत कम मिले हैं। चांहूदड़ो के झूकर काल से तथा मोहनजोदड़ो से कुल्हाड़ी-बसूला की उपलब्धि हुई है। मोहनजोदड़ो के 6' गहराई से प्राप्त नमूनों को मैके कुषाण काल का बताते हैं। उन्हें मोहनजोदड़ो के उत्खनन करने पर 4' की गहराई से पकी मिट्टी का हत्थे के लिए छेदवाली कुल्हाड़ी का माडल मिला। मुंडीगाक के प्रमाण व मोहनजोदड़ो के पकी मिट्टी के नमूने इस बात के सूचक हैं कि सैंधवों को हत्थे के लिए छेदवाले उपकरणों का ज्ञान था। संभवतः ढालने की कठिनाइयों या रूढ़िवादिता के कारण ये प्रचलित न हो पाये हों। इतने सर्वव्यापक प्रमाणों के होते हुए इनका सम्बन्ध उत्तरकालीन आर्यों के आगमन के साथ नहीं जोड़ा जा सकता।

लोथल, मोहनजोदड़ो और हड़प्पा से बहुत से जानवरों, कुत्ते, हंस, चिड़िया, हाथी (?) और साँड की लघु मूर्तियाँ मिली हैं। एक मोहनजोदड़ो से तथा एक लोथल से प्राप्त नृत्य

करती हुई नग्न कन्या की लघु मूर्ति, शिल्पकला की उत्कृष्ट कृतियाँ हैं। पिगट के अनुसार इन लघु मूर्तियों में कुल्ली कन्या का रूपांकन है। इनकी ढलाई संभवतः लुप्त मोम तकनीक द्वारा हुई थी।

मोहनजोदड़ो के ऊपरी स्तरों से चार रीढ़दार तलवारें मिली हैं, जो कि सैंधव हथियारों में अपूर्व हैं। इन तलवारों की रीढ़ और फलक के आधार पर या डांस पर छेद है। डांस मोटे हैं। व्हीलर के मतानुसार ये आक्रमणकारियों की तलवारें हैं। लेकिन एक छोटे कमरे में दबी मिली तलवारों के भंडार और एक अन्य अधूरी बनी तलवार के प्रमाण इस मत के विरुद्ध पड़ते हैं। मोहनजोदड़ो के नमूने अधिक भारी हैं, तथा रीढ़ के आकार के हैं, जबकि नवदाटोली के खंडित टुकड़ों के आकार भिन्न प्रकार के हैं।

बहादराबाद ताम्र संचय संस्कृति की तलवार का मोहनजोदड़ो के प्रकार की तलवारों से साम्य है। बहादराबाद में छेदों के बजाय एक काँटा बना हुआ है। इसी प्रकार के नमूने सरथोली आदि अन्य स्थलों से भी मिले हैं।

अंत में लोथल से प्राप्त खंडित मानवाकृति (आरेख 13) का विवेचन आवश्यक है। अग्रवाल ने विभिन्न ताम्र संचय मानवाकृतियों के मोटे सिरे हथौड़ियाए हुए हैं जिसके कारण उनका सिर एक कील के सिरे की तरह लगता है, लेकिन लोथल के नमूनों के सिरे चपटे हैं। एक वास्तविक मानवाकृति में सिरे के एकदम पास हाथों का टूटना संभव नहीं था। इस प्रकार का टूटना तभी संभव था जबकि हाथ लंबे और सीधे होते, या हाथ इस प्रकार मुड़े होते कि वे एक प्रकार का फंदा या अर्धचन्द्र बनाते। अतः लोथल के नमूने को मानवाकृति का नाम देना उचित नहीं है। उसे ही मानवाकृति कहना चाहिए जिसके सिरे कील के सिर सा हो। केवल लोथल के प्रमाण के आधार पर हड़प्पा और ताम्र संचय संस्कृतियों के बीच संबंध स्थापित करना तर्कसंगत नहीं होगा।

ग. अन्य ताम्राश्मीय संस्कृतियाँ

यद्यपि ताम्राश्मीय स्थलों की ताम्र उपकरणों की सूची दक्षिण के नवाश्मीय स्थलों से लम्बी है, पर वह सैंधव उपकरणों की तुलना में महत्त्वहीन है। ताम्राश्मीय संस्कृति के हथियारों के कोई विशिष्ट प्रकार नहीं हैं। कुल्हाड़ियाँ चपटी हैं जो अन्य संस्कृतियों में भी पायी जाती हैं। एक स्कंधयुक्त कुल्हाड़ी नवदाटोली से मिली है। निवासा की त्रिकोणाकार कुल्हाड़ी एक विशिष्ट प्रकार की है, जिसका संकरा सिरा टूटा हुआ है। यदि यह एक चपटी कुल्हाड़ी होती तो इसके धार से या बीच के भाग से टूटने की संभावना हो सकती थी, न कि इसके संकरे और मोटे सिरे से, अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि यह ऊपरी सिरे पर हत्थे से टूटा होगा या यह हल्लूर से प्राप्त प्रकार का रहा होगा।

ताम्राश्मीय स्थलों से प्राप्त तथाकथित मत्स्य काँटे कील या पिन भी हो सकते हैं। सैंधव उदाहरणों के विपरीत उनमें न तो छेद है न काँटा।
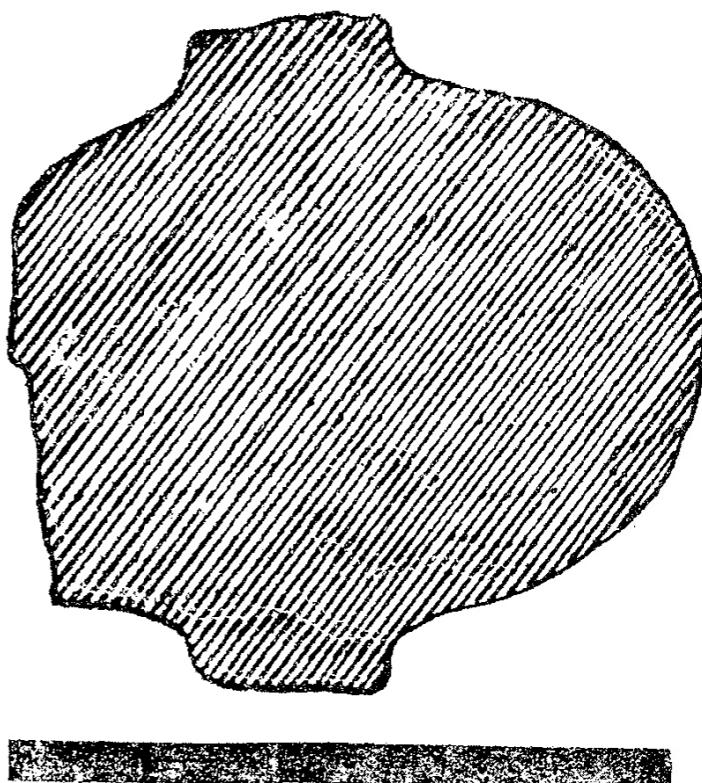
आरेख 13 : लोथल से प्राप्त ताम्र-उपकरण

चंदोली की श्रृंगिकाकार मूठ वाली कटार की तुलना फतेहगढ़ (उ.प्र.) में मिली इसी प्रकार की तलवार से की गयी। अग्रवाल ने इनकी विषमताओं पर प्रकाश डालते हुए बताया कि चंदोली से प्राप्त नमूना कटार का है, जबकि ताम्र संचय से तलवारें मिली हैं। फतेहगढ़ तलवार के 5 की तुलना में चंदोली कटार की पूरी लंबाई का फलक से अनुपात 1.6 है। केवल फतेहपुर तलवार भारी स्पष्ट रीढ़ वाली और ढाली हुई श्रृंगिकाकार मूठ वाली है, जबकि चंदौली का नमूना हलका, रीढ़ हलकी और छेनी तथा हथौड़े द्वारा काटी हुई उसकी मूठ है। उनकी श्रृंगिका बहुत छोटी है जो संभवतः लकड़ी के हत्थे से डाँस के फिसल जाने को रोकने के लिए बनायी गयी थी। मोहनजोदड़ो के नमूनों की तीखी रीढ़ के विपरीत नवदाटोली के नमूनों की हलकी सी रीढ़ थी।

अग्रवाल ने कायथा की प्रारंभिक स्तरों से 1.5 सेंटीमीटर मोटी, और सुंदर ढलाई की हुई ताम्र कुल्हाड़ियों का परीक्षण किया जो कि उनके विचार से संपूर्ण प्रागैतिहासिक काल में शिल्पकारिता की दृष्टि से अद्वितीय व शानदार हैं। इनके अतिरिक्त इस स्थल से छेनियाँ और बहुत से कड़े भी मिले हैं।

ताम्राश्मीय स्थलों से प्राप्त अन्य उपकरण हैं: मनके, कीलें, कुरेदनी, छड़ें तार, छल्ले और पायल। संकालिया को जिला नागौर के खुर्दी नामक स्थल के एक ताम्र भंडार से एक ताम्र की चपटी कुल्हाड़ी, एक छड़ कुल्हाड़ी, पतले मुड़े हुए फलक और नालिका वाला कटोरा

मिला है। कटोरे नवदाटोली के मृद्भांडों के समतुल्य हैं। अन्य ताम्र संचय उपकरणों के समान ही ये सब अस्तरीय उपलब्धियाँ हैं। इन शिल्प उपकरणों के मुड़े हुए फलकों की तुलना मोहनजोदड़ो के नमूनों से की जा सकती है, यद्यपि विस्तृत विवरण उपलब्ध नहीं हुआ है। नालीदार कटोरे परंपरागत रूप से आज तक यज्ञ के लिए प्रयोग किये जा रहे हैं, अतः ऐसे संग्रहों की अति प्राचीनता स्थापित नहीं की जा सकती।

घ. ताम्र-संचय संस्कृति

ताम्र-संचय के उपकरणों के अस्तरित होने के कारण विद्वानों द्वारा कई अटकलें लगायी जाती रही हैं। शिल्प वैज्ञानिक विश्लेषणों पर आधारित हम अपनी कुछ अटकलों को भी यहाँ प्रस्तुत करेंगे। यहाँ ताम्र संचय संस्कृति का अन्य संस्कृतियों के साथ समानताओं तथा विषमताओं का उल्लेख करेंगे। सर्वप्रथम हमने इस वर्ग के शिल्प-उपकरणों का धातु-विज्ञान, तथा स्पेक्ट्रमी विश्लेषण किया है। लेकिन किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए अभी बड़ी मात्रा में नमूनों की आवश्यकता है। पर इतना तो मानना ही ठीक पड़ेगा कि ताम्र संचय समस्या का निदान शिल्प के तकनीकी अध्ययनों द्वारा ही हो सकता है न कि केवल आकृतियों की तुलना द्वारा। हमने केवल उपकरण प्रकारों के अध्ययन के बजाय अधिक बल उनके प्रयोग और तत्कालीन परिस्थितियों पर दिया है।

समय-समय पर इस संस्कृति के अधिकांश उपकरण भंडारों में मिले हैं अतः इनके लिए ताम्र-संचय (Copper Hoards) पद प्रचलित हुआ। ताम्र-संचय स्थलों का क्षेत्र उत्तर पश्चिम में शालोजोन से लेकर पूर्व में भागरापीर तक तथा दक्षिण में कल्लूर (?) तक फैला हुआ है। विविध प्रकार के उपकरण मिले हैं जिनमें तलवारें, हत्थे के लिए छेदवाली कुल्हाड़ी और कुल्हाड़ी-बसूला, टेकदार कुल्हाड़ी (Trunnion axe), चपटी और स्कंधयुक्त कुल्हाड़ियाँ, मत्स्य भाले (Harpoons), बाजूबंद, मानवाकृतियाँ, शृंगिकाकार तलवारें, भालाग्र और छल्ले मुख्य हैं। अब तक लगभग एक हजार से भी अधिक उपकरण मिले हैं। केवल गुँगेरिया से ही 829 पौंड वजन के 424 उपकरण मिले हैं। अतः धातु उपकरणों की दृष्टि से हड़प्पा संस्कृति और ताम्र-संचय संस्कृतियाँ दोनों ही सम्पन्न हैं।

पिगट और हाइन गेल्डेन ताम्र संचयों का संबंध आर्यों के भारत में आगमन के साथ जोड़ते हैं। लेकिन बाद में पिगट ने मत बदला और वे इसका संबंध सैंधव शरणार्थियों से मानते हैं। हाइन गेल्डेर्न की तिथि केवल प्रकारों के अध्ययन पर आधारित है। समय व स्थान की दृष्टि से सार्डीनीया, ब्रिटिश आईल्स, यूनान और ट्रांसकाकेसिया, तथा मिश्र तक बिखरे हुए प्रकारों की उन्होंने तुलना की है और निम्न निष्कर्ष निकाले हैं।

(i) टेकवाली कुल्हाड़ी लगभग 1200-1000 ई. पूर्व ट्रांसकाकेसिया से ईरान होते हुई आयी; (ii) कुल्हाड़ी-बसूला का डेन्यूब क्षेत्र से ईरान होते हुए लगभग 1200-1000 ई. पूर्व आगमन हुआ, (iii) फोर्ट मनरो तलवार लगभग 1200-1000 ई. पू. पश्चिमी ईरान से

आयी, और (iv) शृंगिकाकार तलवार पर वे कोबान प्रतिरूपों का लगभग 1200-1000 ई. पू. अधिक प्रभाव देखते हैं।

लाल ने हाइन गेल्डेर्न की आलोचना करते हुए कहा कि टेकवाली तलवार फोर्ट मनरो तलवार, हत्थे के लिए छेदवाली कुल्हाड़ी-बसूला और कुल्हाड़ी दोआब से कभी नहीं मिले (यद्यपि कुरुक्षेत्र से प्राप्त एक हत्थे के लिए छेदवाले नमूने का उल्लेख हुआ है) कोबान प्रतिरूपों के विपरीत शृंगिकाकार तलवार एकल टुकड़े में ढली हुई है। अतः उसकी तुलना कोबान से नहीं की जा सकती। इसी प्रकार मत्स्य भाले, छड़-कुल्हाड़ियाँ और मानवाकृतियाँ दोआब के पश्चिम से नहीं मिलीं। लाल ताम्र संचयों का संदिग्ध आर्यों से पूर्व की आदि जातियों से जोड़ते हैं, फिर भी अपने पूर्वमत की पुष्टि के लिए हाइन गेल्डेर्न चांहूदड़ो से प्राप्त गदा सिर के नमूनों की समानता हिस्सार काल III से, तथा अन्य समानताओं की काकेशक की कोबान संस्कृति, ट्रांसकाकेशिया के गंदशा काराबाग संस्कृति, लूरिस्तान संस्कृति और स्याल्क A और B से करते हैं। उनके मतानुसार आर्यों ने पश्चिम से 1200 से 1000 के बीच आक्रमण कर सिंध सभ्यता का अन्त किया। ताम्र संचय का सार्डीनिया और मिश्र जैसे दूरस्थ प्रदेशों से सादृश्य स्थापित करने की अपेक्षा, गुप्ता तथा लाल का मत है कि ये इसी भूमि में जन्मी संस्कृति हैं। यह मत अधिक तर्कसंगत लगता है। बिहार के ताम्र अयस्क भंडार व दक्षिणी जंगलों से भरे पठार, ताम्र उत्पादन ही नहीं प्रत्युत धातुकर्म की स्वतंत्र उत्पत्ति के लिए भी बहुत अनुकूल थे। दोआब के ताम्र संचय के तीन विशिष्ट प्रकार मत्स्य-भाला, मानवाकृति और शृंगिकाकार तलवारें (आलेख 14) हैं। इनको ताम्र संचय के मुख्य विशेषक निर्धारित करने की कसौटी निम्नलिखित है। पहला, तीनों ही हथियार साथ पाये जाते हैं अतः ताम्र संचय के अंतर्गत आने चाहिए। उदाहरणार्थ, बिसौली में मानवाकृति व मत्स्य भाले, बिठूर में मत्स्य भाले और शृंगिकाकार तलवार, तथा फतेहगढ़ से शृंगिकाकार तलवार और मानवाकृति साथ-साथ मिले हैं। द्वितीय, प्रकार-फलस्वरूप की दृष्टि से ये विशिष्ट प्रकार के हथियार हैं जो कि केवल दोआब से ही मिले हैं। ये दोआब में 78^0 से 84^0 पूर्वीय देशांतर और 24^0 उत्तरी अक्षांश रेखाओं के मध्य मिले हैं। यह एक घना मानसूनी जंगलों व नदियों का क्षेत्र था जहाँ पर्याप्त जानवर और मछली मिल सकती थीं व सीमित मात्रा में खेती भी हो सकती थी। मानवाकृति, तलवार तथा मत्स्य भाला वास्तव में शिकारी जीवन के ही सूचक हैं। प्राप्त लगभग एक सहस्र उपकरणों के बीच एक भी पात्र का न मिलना, उनके अर्द्धयायावर जीवन का द्योतक है।

दक्षिणी-पूर्वी प्रदेश पठारी क्षेत्र के 24^0 उत्तरी अक्षांश के दक्षिण से ये विशिष्ट प्रकार उपलब्ध नहीं हुए हैं। इस क्षेत्र से केवल चपटी और स्कंधयुक्त कुल्हाड़ियों, छड़-कुल्हाड़ियाँ और दोहरी धार वाली कुल्हाड़ियाँ मिली हैं। गुंगेरिया का महत्वपूर्ण स्थल इसी पठार पर पड़ता है। सिंहभूमि ताम्र (मौला डिह, राखा, मसोबनी आदि खानें) के निकट होने के कारण प्रारम्भिक कबीलों का ध्यान इस ओर गया होगा। ताम्र अयस्क सभी खूब रंगीन होते हैं।
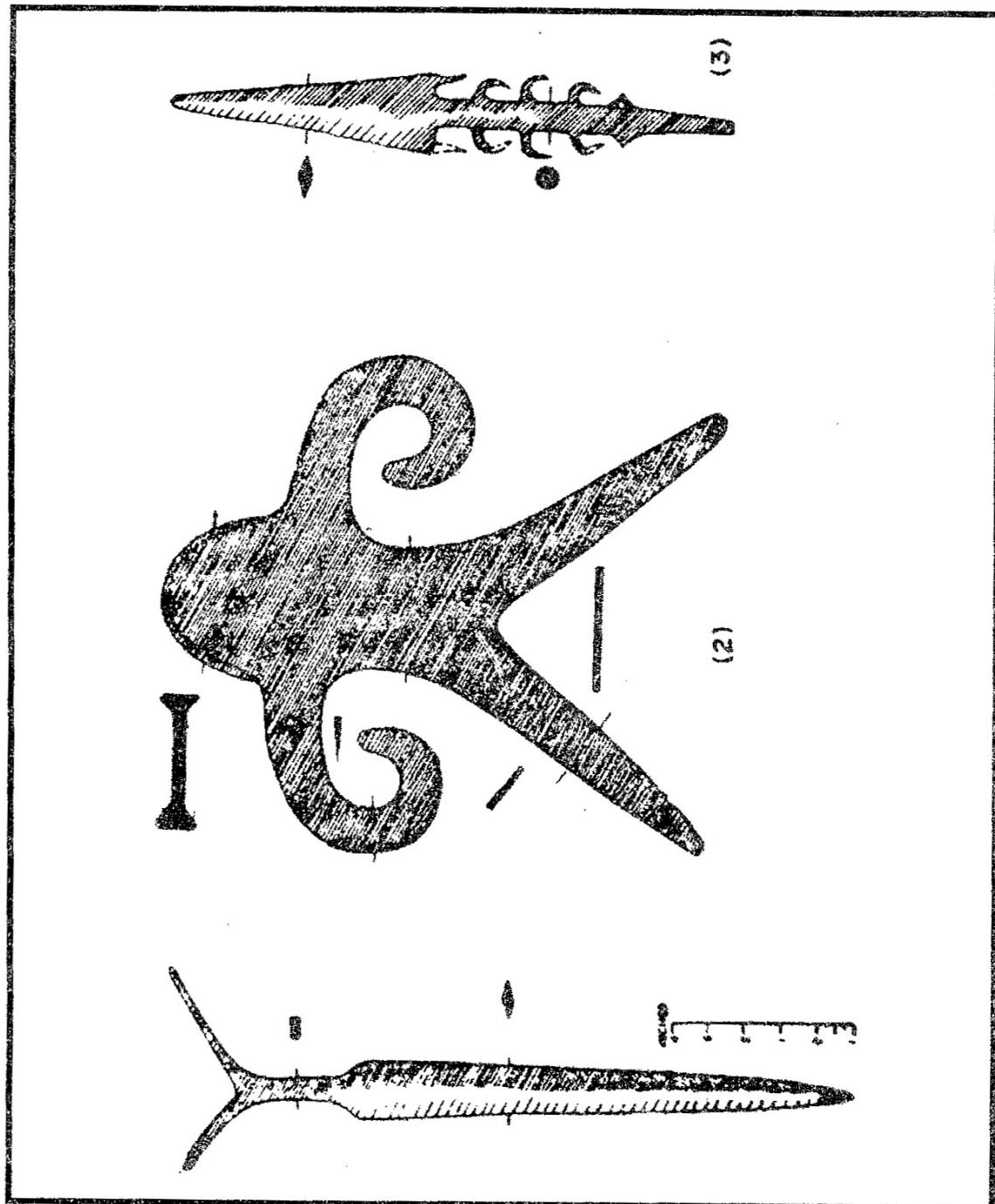
आरेख 14 : ताम्र संचय संस्कृति के उपकरण प्रकार

कैल्कोपाइराइट का रंग सुनहरा, मैलाकाईट हरा और अज्युराइट नीले रंग का है। उत्सुकता, अचानक खोज व प्रयोगों के फलस्वरूप यह संभव है कि इस क्षेत्र में धातुकर्म का विकास स्वतंत्र रूप से हुआ हो। जंगल वृक्षों से भरे थे जिनसे प्रगलन भट्टियों के लिए पर्याप्त ईंधन उपलब्ध था।

इन कबीलों के वे लोग जो धातु शिल्प में सिद्धहस्त हो चुके थे आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र हो गये। फलतः शायद वे कबीले के बंधनों को तोड़कर यायावर लोहार बन गये। इन्हीं कबीलों के शिल्पकर्मियों ने शायद दोआब के अनुकूल विशिष्ट प्रकार के उपकरण बनाये। इन धातुकर्मियों को दोआब में फैलने तथा उस पारिस्थितिकी के अनुकूल नये प्रकार के

हथियारों को बनाने में कितना समय लगा होगा, इसका केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है। अभी तक यही कहा जा सकता है कि ताम्र संचय संस्कृति चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति (लगभग 800 ई.पू.) से पूर्ववर्ती थी। ताम्र संचय संस्कृति का प्रारम्भ निर्धारण करने के लिए अभी हमें अधिक उत्खननों की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। सेपाई (उत्तर प्रदेश) से कुछ उपकरण उत्खनन से मिले हैं, परन्तु वहाँ से कोई तिथि निर्धारण योग्य वस्तु नहीं मिली।

पठारी क्षेत्र के उपकरण चपटे और स्कन्धयुक्त हैं जो कि जंगली पठार की आवश्यकतानुकूल थे। पटना संग्रहालय में रखे इस क्षेत्र के उपकरणों का अध्ययन करने के पश्चात् अग्रवाल इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि वे संभवतः खुले साँचे के प्रयोग के फलस्वरूप ही एक ओर चपटे व दूसरी ओर थोड़े उन्नतोदर थे। परन्तु कुछ गुंगेरिया प्रकार की चपटी कुल्हाड़ियाँ दोहरे साँचे के प्रयोग का आभास देती हैं। मत्स्य-भाले या बर्छी की जटिल ढलाई बंद साँचे में ही हो सकती थी। यह प्रकार संभवतः यायावर लोहारों ने चट्टानों पर चित्रित लकड़ी के नमूनों की नकल करके बनाया था। राजपुर परसू के अलावा छड़-कुल्हाड़ी केवल पठारी क्षेत्र से ही मिली हैं।

प्रयोगात्मक व पारिस्थितिकी दृष्टि से अब हम महत्त्वपूर्ण उपकरणों के प्रकारों का वर्णन करेंगे।

अग्रवाल के अनुसार पटना संग्रहालय में हामी की छड़-कुल्हाड़ी आमतौर से एक ओर चपटी सी और ऊपर की ओर उन्नतोदर थीं। उनकी धार ऊपरी किनारों को छाँट कर बनायी गयी है। वे काफी लम्बी (2' तक) और भारी हैं। हामी तथा गुंगेरिया से ऐसे अनेक नमूने मिले हैं। अग्रवाल के मतानुसार ये मोटे व लम्बे होने के कारण सब्बल की तरह खुदाई के लिए प्रयुक्त होते होंगे। इन पर लगे हुए निशानों से स्पष्ट होता है कि इनका उपयोग किसी कठोर तल पर किया जाता था। गुंगेरिया से प्राप्त एक छड़-कुल्हाड़ी की धार पर आरी की तरह दाँते बने थे।

प्रस्तर तथा ताम्र छड़-कुल्हाड़ी में समानता होने के कारण, लाल का मत है कि ताम्र छड़-कुल्हाड़ियाँ उनके प्रस्तर प्रतिरूपों की नकल है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सीताभंजी, बान असुरिया, संथाल परगने, जसपुर, ठाकुरानी आदि से प्रस्तर उपकरण तो मिले हैं। लेकिन ताम्र संचय उपकरण नहीं मिले। दानी के अनुसार पूर्वी प्रस्तर उपकरण, दक्षिणी पूर्वी एशिया के नमूनों के सदृश हैं। दक्षिणी-पूर्वी प्रस्तर उपकरणों के विस्तृत अध्ययन करने के पश्चात् वे इस निष्कर्ष में पहुँचे कि उनमें से बहुत से प्रकार जैसे स्कंधयुक्त प्रस्तर कुल्हाड़े और छड़-कुल्हाड़ी मलाया आदि से प्राप्त उपकरणों की बाद में नकल हैं। इससे यही स्पष्ट होता है कि धातु छड़-कुल्हाड़े भारत में प्राप्त प्रस्तर प्रतिरूपों से पूर्व प्रचलित थे।

लाल के मतानुसार कड़े भी ताम्र संचय संस्कृति की विशिष्टता हैं। लेकिन इन तथाकथित कड़ों को, भारी कंगनों से किस कसौटी पर अलग किया जाय यह निर्धारित करना कठिन प्रतीत होता है। कई स्थलों से प्राप्त सैंधव कड़े मोटे (लगभग 0.3") तारों के सिरों को मिलाकर बनाये गये थे। जोर्वे से भी 12 मि. मि. मोटे तार के कड़े मिले हैं। देशपांडे

के अनुसार उत्तर कालीन सैंधव स्थल बड़गाँव (जिला सहारनपुर) से एक छल्ला मिला है। पतले कंकन सर्वव्यापी हैं। अतः उन्हें ताम्र-संचय संस्कृति के अंतर्गत वर्गीकृत करने की कसौटी उनका एक मानक तौल होना ही हो सकती है, जो कि यायावर लोहारों के लिए धातु तौल की साथ-साथ ले जाने के लिए सुविधाजनक इकाई हो सकते थे। विभिन्न उपकरणों के बनाने के लिए कितने ऐसे कड़ों के भार के बराबर धातु लगेगा। यह विनिमय का एक आसान तरीका हो सकता था लेकिन जब तक उनको तोलकर यह संबंध स्थापित न किया जाय, यह एक अटकल ही रहेगी। इस दृष्टि से पोंडी से प्राप्त 47 कड़े या छल्ले, इस अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण साबित हो सकते हैं।

शृंगिकाकार तलवार दो शृंगिकाओं की तरह हत्थे के बने होने के कारण ही शृंगिकाकार तलवार कहलाती है। यह प्रकार जिला रायचूर के कल्लूर के दूरस्थ स्थल को छोड़, केवल दोआब से ही मिलता है। ताम्राश्मीय उपकरणों के उपशीर्षक के अंतर्गत हम शृंगिकाकार कटार की विशेषताओं और भिन्नताओं का उल्लेख पहले कर चुके हैं। शृंगिकाकार तलवार की असुविधाजनक द्विशाखीय मूठ के कारण, (प्रत्येक शाखा 4" लंबी है।) उनके युद्ध के लिए प्रयोग किये जाने में संदेह है। अग्रवाल के मतानुसार ये बड़े शिकार को मारने के लिए प्रयुक्त की जाती थीं। उनका अनुमान है कि शृंगिकाकार मूठ को भारी कच्ची डालों में फंसाकर, फलक को सीधा खड़ा कर गढ़े में रख दिया जाता था। गढ़े को पत्तियों से ढककर शिकार को उस ओर भगाया जाता था। फलक पर भारी जानवर के गिरने पर, वह बिना मुड़े उसके शरीर से बिंध जाता होगा।

पुरातात्त्विक साहित्य में मानवाकृति इस उपकरण को, सांकेतिक रूप में, उसके मानवाकार होने के कारण कहते हैं इसका प्रयोग स्पष्ट न होने के कारण मानवाकृति सा लगने के कारण यह समझा जाता है कि यह किसी धार्मिक अनुष्ठान के लिए प्रयुक्त होती होगी। अनेकों संग्रहीत मानवाकृतियों के अध्ययन के बाद उनकी तीन विशेषताएँ बतायी गयी हैं- (i) हथौड़ियाया हुआ कुंद सिरा, (ii) बाहर की तरफ तीखी और मुड़ी बाहें; तथा (iii) सादे कुंद पांव। एकसार ताम्र पत्तर को काट कर तथा पीट कर ये बनाये गये हैं। सिर की अपेक्षा बाहें पीट कर पतली बनायी गयीं, जबकि इसके सिर को पीट कर उसे अधिक मोटा बनाया गया। अग्रवाल ने इसका एक माडल बना कर इसे अस्त्र की तरह फेंकने पर पाया कि यह घूमता हुआ जाता है। उनके अनुसार यह इस प्रकार का बना है कि यदि उड़ती हुई चिड़िया को गिराना हो तो यह तीन प्रकार से काम करता है- तीखी पैनी बाँहे यदि चिड़िया के लगें तो उसे काटेंगी, मोटा सिरा लगने पर, वह उसे अचेत कर देगा, और यदि चिड़िया घूमती हुई मुड़ी बाँहों में फँस जाती है तो वह इस अस्त्र के साथ ही नीचे आ गिरेगी। उनका कथन है कि इसका मोटा सिरा इसके गुरुत्व-केन्द्र को ऐसे संतुलित करता है कि यह अस्त्र संभवतः बूमरेंग की तरह कार्य करता था। इस संदर्भ में बूमरेंग के कार्य के विषय में फैलिक्स के विचार उद्धरित करना उचित होगा। उसके अनुसार केवल आकार के कारण बूमरेंग के लौटने के विषय में सोचना गलत होगा। मुख्य बात बाहों की बनावट है जो कि एक ओर

दूसरे से अधिक उन्नतोदर हैं। ऐसी ही बनावट मानवाकृति की बाहों की भी है। चाहे किसी भी प्रकार यह अस्त्र प्रयोग किया जाता हो पर इसके अस्त्र के रूप में प्रयोग किये जाने के विषय में कोई तर्कपूर्ण शंका नहीं की जा सकती।

लोथल व दोआब के नमूनों की भिन्नताओं के विषय में पहले ही लिखा जा चुका है। मत्स्य भाले, रीढ़दार भालाग्र की तरह है जिसमें मुड़े काँटे लगे हों। इनकी मूठ पर प्रायः छेद होता है। ये दो प्रकार के हैं। पहला प्रकार है-- मोटी चादर से काटकर हथौड़िया कर बनाये हुए, द्वितीय दोहरे साँचे में ढाले हुए। दूसरे की अपेक्षा प्रथम नमूने अधिक आदिम व भद्दे लगते हैं। स्तरीय प्रमाण ही यह निश्चित कर सकते हैं कि काटे हुए नमूने ढाले हुए प्रतिरूपों के पूर्वगामी हैं या नहीं। द्वितीय प्रकार के नमूने शिल्प कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं और इस बात के सूचक हैं कि ताम्र संग्रह लोहारों ने शुद्ध ताम्र की बन्द ढलाई की तकनीक सीख ली थी। यह बड़े शिकार की मार के लिए भालाग्र की तरह प्रयोग किया जा सकता था, जैसा कि कोकबर्न ने भी दर्शाया है और बड़ी मछलियों को मारने के लिए कांटेदार बर्छी के रूप में भी।

उपर्युक्त तीनों ही शिल्प उपकरण, मत्स्य भाला, शृंगिकाकार तलवार और मानवाकृति दोआब के विशिष्ट प्रकार हैं जो किसी भी अन्य संस्कृति में उपलब्ध नहीं है।

लाल के अनुसार स्कंधयुक्त कुल्हाड़ियाँ हड़प्पा संस्कृति में प्राप्त नहीं हुईं। प्राप्त प्रमाणों के अनुसार अग्रवाल का मत है कि चपटे व स्कंधयुक्त प्रकारों में कोई गुणात्मक अंतर नहीं है। कुछ सैंधव उदाहरण वस्तुतः स्कंधयुक्त कहे जा सकते हैं। अग्रवाल के मतानुसार चपटी और स्कंधयुक्त कुल्हाड़ियाँ बहुत सादे प्रकार की होने के कारण सर्वव्यापी हैं। अतः ये किसी एक संस्कृति की विशिष्टता नहीं कही जा सकतीं। द्विमुखी कुल्हाड़ियाँ केवल उड़ीसा में भागरापीर से ही मिली हैं। ये एक अंडाकार चादर से गोलाकार टुकड़े काट कर बनायी जाती थीं। इस कारण इसका विशिष्ट आकार है। तीन नमूनों का माप 18½" x 15¾", 10" x 8½" और 10½" x 7" है। इनकी मोटाई $^1/_2$" से $^1/_8$" तक है। इनमें से दो कुल्हाड़ियों की दोनों धारें पैनी हैं, जबकि एक की केवल एक धार। इतने बड़े आकार के, इतने पतले हथियार को कुल्हाड़े की भाँति प्रयोग करने पर यह मुड़ जाता। अतः इन्हें कुल्हाड़ियाँ कहना गलत ही होगा। वे संभवतः भूमि अनुदान करने के पट्टों की तरह प्रयुक्त हुए होंगे।

कुछ विद्वानों के अनुसार लोथल की आयताकार कुल्हाड़ी (?), हड़प्पा की बिना धार की द्विमुखी कुल्हाड़ी (?), हल्लूर की त्रिकोण फलक वाली कुल्हाड़ी; ताम्र संचयों की द्विमुखी कुल्हाड़ियों के प्रकार से संबंधित है। केवल आकृति की दृष्टि से भी ये सब अपने में विशिष्ट प्रकार हैं, जिनकी एक दूसरे से तुलना नहीं की जा सकती। यदि इन विभिन्न हथियारों के विशिष्ट प्रयोग का ख्याल न करें और केवल प्रकारात्मक दृष्टि से देखें तो ये ताम्र संचय, सैंधव और नवाश्मीय संस्कृतियों को एकजुट कर देती हैं, जो अतार्किक है। वस्तुतः

भागरापीर की द्विमुखी कुल्हाड़ियाँ ताम्र संचय के साथ नहीं मिलीं, इन्हें ताम्र-संचय प्रकारों में नहीं रखा जाना चाहिए।

काँटेदार तलवार (Hooked Sword) फतेहगढ़, नियोरी संर्थोली और बहादराबाद से मिली हैं। यह प्रकार दोआब के उपर्युक्त तीन विशिष्ट उपकरणों के साथ पाया जाता है। मोहनजोदड़ों से बिना काँटे की रीढ़दार चार तलवारें मिली हैं, जिनकी जड़ अथवा फलक पर छेद हैं। नवदाटोली की खंडित रीढ़दार फलक का वर्णन पहले कर चुके हैं। ताम्र संचय की तलवार या भाले की जड़ के पास काँटा है। यह काँटा तलवार के साथ ढाल कर नहीं बनाया गया बल्कि इसकी डाँस को छेनी से काटकर बनाया गया था। नवदाटोली के खंडित फलक की चपटी रीढ़ के विपरीत इसकी रीढ़ अधिक ऊँची है। यह सामान्य प्रकार का हथियार है जो घोंपने के काम आता होगा, अतः इसका अन्य संस्कृतियों से सम्बन्ध स्थापित करने के हेतु इसका कोई तुलनात्मक महत्त्व नहीं है।

परशु का अब तक केवल एक ही उदाहरण सारथोली के मत्स्य भालों के साथ मिला है। बहादराबाद से प्राप्त चपटे, पतले और लम्बे फलक भी उल्लेखनीय हैं। अग्रवाल के अनुसार उनकी केवल एक ओर की धार और सिरा ही पैने हैं। शायद वेदराट के रूप में प्रयोग होते थे।

(ङ) सारांश

उपर्युक्त विवेचना में हमने किन्हीं इक्के-दुक्के प्रकारों को महत्त्व न देकर केवल विशिष्ट प्रकारों को ही ताम्र संस्कृति का विशेषक माना है। हमने उनके प्रयोग पर अधिक बल दिया है। दोआब क्षेत्र के विशिष्ट हथियार शृंगिकाकार तलवार, मत्स्य, भाले और मानवाकृति, यायावर शिकारी जीवन के अनुकूल हैं। समस्त ताम्र-संचयों से अभी तक कोई भी पात्र नहीं मिला। दक्षिण क्षेत्र की विशिष्टता छड़-कुल्हाड़ी हैं। विविध प्रकार की कुल्हाड़ियाँ सभी स्थलों से मिली हैं। ताम्र-संचय स्थलों से पर्याप्त मात्रा में धातु मिला है जो कि सैंधव स्थलों की तुलना कर सकता है। मत्स्य भाला शुद्ध ताम्र की बन्द ढलाई का उत्कृष्ट नमूना है।

ताम्र संचय व अन्य संस्कृतियों के मध्य धातु उपकरणों के बाह्य रूप के आधार पर संबंध स्थापित करने के प्रयास तर्कपूर्ण नहीं लगते। ताम्र संचय हमारे देश के पुरैतिहासिक काल की एक अपूर्व व संभवतः स्वतंत्र संस्कृति है। चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति के लोगों द्वारा लौह उपकरणों के उपयोग से दोआव के जंगलों के साफ होने से पूर्व, संभवतः यह दोआब के जटिल व घने जंगलों की आदि जातियों की संस्कृति थी। छोटा नागपुर का पठार ताम्र अयस्कों से भरपूर व जंगलों से आच्छादित था। अतः वहाँ स्वतंत्र धातु शिल्प का उद्भव दो सहस्र ई.पू. भी संभव था। घने जंगलों की पारिस्थितिकीय रुकावटों के कारण ही दोआब की यह संस्कृति अन्य पश्चिमी संस्कृतियों के सम्पर्क में शायद नहीं आ पायी।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि नवाश्मीय काल में पूर्वी भारतवर्ष का दक्षिणी पूर्वी एशिया

से सम्पर्क था। स्याम में नवीन अनुसंधानों से ज्ञान हुआ कि नोकनोकथा स्थल में ताम्र तकनीक का प्रारम्भ, कार्बन तिथि के अनुसार, लगभग 2300 ई.पू. हुआ था। उन्नीसवें स्तर से प्राप्त ताम्र कुल्हाड़ियों और टीलों की कार्बन तिथि TF-651, 2325±200 ई.पू. व Gak-956, 2290±90 ई.पू. है। इससे प्रतीत होता है कि संभवतः ताम्र संचय संस्कृति का प्रेरणा केन्द्र दक्षिण-पूर्वी एशिया रहा हो। लेकिन वर्तमान अपर्याप्त अनुसंधानों के आधार पर यह निश्चित नहीं किया जा सकता कि ताम्र-संचय संस्कृति का प्रेरणा स्रोत दक्षिण-पूर्वी एशिया था या उसका उद्‌भव स्वतंत्र रूप से हुआ।

यद्यपि ताम्र संचयों के साथ कोई भी मृद्‌भाण्ड नहीं मिले, तो भी मेरुए भाण्डों का संबंध इस संस्कृति से जोड़ा जाता है जबकि गेरुए भाण्डों की परिभाषा के विषय में भी विद्वानों में मतभेद है। शर्मा ने गेरुए भाण्डों का सम्बन्ध परवर्ती सैंधव व ताम्र संचय से भी जोड़ा है। देशपाण्डे के मतानुसार हड़प्पा के नमूने, बड़गाँव के गेरुए भाण्डों के सदृश हैं। देशपाण्डे ने बड़गाँव में कब्रिस्तान का भी प्रभाव पाया है। गुप्ता के मतानुसार गेरुए भाण्डों का स्वतंत्र अस्तित्व है जिसका सैंधव संस्कृति से सम्बन्ध नहीं है। स्थानीय कबीलों द्वारा ताम्र संचय संस्कृति का पृथक व स्वतंत्र उद्‌भव स्थापित करने का हमने ऊपर प्रयत्न किया। लाल और गुप्ता के अनुसार ये कबीले मुंडा लोगों के हो सकते हैं। ताम्र संचय मुंडा जाति के हो सकते हैं जो कि बिहार से गढ़वाल तक फैले और फिर वापस हो गये। पहाड़ी बोली-समूहों में मुंडा शब्दों की उपस्थिति और हिमालय क्षेत्र की आबादी में डोम और कोल्टा लोगों में प्रोटो ओस्ट्रोलाइड जातियों के लक्षण उक्त विचार को पुष्ट करते हैं। ग्रियर्सन और रिसले ने भी इस सिद्धान्त को माना है। अग्रवाल के अनुसार कुमाऊँ में आज भी डोम ही लोहार का काम करते हैं। यह उल्लेखनीय है कि पूर्वी ओस्ट्रेलेनाजियन कबीले, जो मोनखमेरों के पूर्वज थे व मुंडा भाषाओं से भी सम्बन्धित थे, स्वतंत्र रूप ले ताम्र-युग में पहुँच गये। यह समझा जाता है कि नवाश्मीय काल में उत्तर पूर्वी भारत, दक्षिणी पूर्वीय एशिया का अभिन्न अंग था। जैसा कि पहले ही बताया गया है कि स्याम में धातु युग का प्रारम्भ पहले होने के कारण, धातु शिल्प का प्रसार ताम्र-संचय संस्कृति में दक्षिण पूर्वीय एशिया में होने की संभावना बढ़ जाती है।

(च) निष्कर्ष

प्राग्हड़प्पा संस्कृतियाँ धातु की दृष्टि से बहुत हीन है। ताम्र के प्रयोग के प्रमाण इतने थोड़े मिले हैं कि यह कहा जा सकता है कि उन्हें या तो स्थानीय अयस्क खानों का पता न था या प्राग्हड़प्पा संस्कृतियों का समाज पूरे समय धातुकर्म करने वाले लोहारों का निर्वाह नहीं कर सकता था। धातु-उपकरणों के आधार पर विभिन्न सह सम्बन्ध स्थापित करने के लिए पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं।

इसके विपरीत, सैंधव स्थलों में हम एकाएक धातुकर्म का व्यापन देखते हैं। विविध प्रकार के धातु पात्रों से ज्ञात होता है कि उन्हें धसाने, उभाड़ने, जोड़ने आदि की तकनीकों

का ज्ञान था। ताम्र-संचय व ताम्राश्मीय स्थलों से कोई भी धातु पात्र नहीं मिले हैं। सैंधव व ताम्राश्मीय शिल्प उपकरणों से पता चलता है कि उनमें तापानुशीतन व धातु को ठंडी ठुकाई की तकनीक क्यों प्रयुक्त होती थी। तापानुशीतन संभवतः ताम्र संचय संस्कृति में प्रचलित न था। सैंधव संस्कृति में लुप्त मोम की ढलाई की तकनीक भी प्रयुक्त हुई है, वैसे खुले खाँचों का प्रयोग सामान्य था। ताम्र-संचय के मत्स्य काँटे और गूंगेरिया की कुल्हाड़ियों से बंद साँचों में ढलाई का आभास होता है। शुद्ध ताम्र की ढलाई के लिए बंद साँचों का प्रयोग एक कठिन तकनीक है। संभवतः टिन की कमी तथा धातु मिश्रण की कठिनाइयों के कारण ताम्र-संचय शुद्ध ताम्र के हैं। ताम्र-संचय तथा ताम्राश्मीय संस्कृतियों की अपेक्षा धातु की गढ़ाई की तकनीकें हड़प्पा संस्कृति में कहीं अधिक उन्नत हैं। हड़प्पा तथा ताम्राश्मीय दोनों ही संस्कृतियों में धातु मिश्रण का प्रयोग किया गया, जबकि ताम्र संचय से अभी तक कांस्य के निश्चित प्रमाण नहीं मिले हैं।

धातु निर्मित उपकरणों के विशिष्ट सैंधव प्रकार हैं, उस्तरे बाणाग्र, मत्स्य काँटे, मुड़े हुए फलक संभवतः सर्वप्रथम आरी व नालीवाला बरमा उन्होंने ही तैयार किया। ताम्र-संचय के विशिष्ट प्रकार हैं, मानवाकृति, शृंगिकाकार तलवार और मत्स्य भाले। ताम्राश्मीय संस्कृति के प्रकार सामान्य हैं और ये अन्य संस्कृतियों में भी मिलते हैं। इनकी अपनी कोई विशिष्टता नहीं है। सैंधव, ताम्राश्मीय व ताम्र संचय संस्कृतियों को, उपर्युक्त विवेचन के आधार पर स्वतंत्र समूहों में ही रखा जा सकता है। चंदौली की श्रृंगिकाकार कटार व लोथल की मानवाकृति के तथाकथित सादृश्य की, तकनीकी दृष्टि से कोई समानता नहीं है।

ताम्राश्मीय संस्कृतियों में बनास संस्कृति की विशिष्टता इसमें लघु-अश्मों का अभाव, और धातु-प्रगलन का ज्ञान है। मालवा संस्कृति की विशेषता लघुअश्मों का उपयोग और जोर्वे की प्रस्तर कुल्हाड़ियाँ है।

धातु की बहुलता की दृष्टि से सैंधव सभ्यता के स्थल सबसे आगे हैं, तत्पश्चात् ताम्र-संचय और अंत में ताम्राश्मीय स्थल आते हैं। यद्यपि ताम्राश्मीय संस्कृति उपर्युक्त दोनों संस्कृतियों से धातु की दृष्टि से बहुत पिछड़ी है, पर दक्षिण की नवाश्मीय संस्कृतियों से कहीं आगे है। स्थान, काल, प्रकारात्मक वैभिन्य व धातुकर्म की दृष्टि से इन संस्कृतियों में कोई विषेश समानता नहीं है। संभवतः सैंधव के पश्चात् ताम्राश्मीय और फिर ताम्रसंचय संस्कृतियाँ विकसित हुईं। इन संस्कृतियों का भौगोलिक क्षेत्र भी अलग-अलग है और परिस्थियाँ भी।

सैंधव की धातु संपन्नता का मुख्य कारण अतिरिक्त कृषि उत्पादन तथा स्थानीय खानों की खोज थी। किसी भी समाज में अतिरिक्त उत्पादन के बिना धातुकर्मियों का जन्म संभव नहीं। सैंधव स्थलों से प्राप्त बड़ी संख्या में उपलब्ध सँकरी कुल्हाड़ियाँ और छेनियाँ कुदाल की भाँति प्रयोग की जा सकती थीं। चारों ओर से घिसे और चिकने बहुत से चर्ट फलक संभवतः लकड़ी पर लगाकर कुदाल की तरह प्रयोग किये जाते थे। अतिरिक्त कृषि उत्पादन से समृद्ध अर्थव्यवस्था, धातुकर्म का ज्ञान, धातु स्रोतों की बहुलता तथा अनुकूल पारिस्थितिकी के फलस्वरूप ही सिंध की घाटी में सैंधव नागरीकरण का इतनी तेजी से विकास हुआ।

ताम्र-संचय लोगों को भी धातुकर्म का ज्ञान था तथा धातु की बहुलता भी थी। इनकी अन्य संस्कृतियों से पृथकता तथा विशिष्टता इनके धातुकर्म के स्वतंत्र विकास की सूचक है। यद्यपि जंगलों से भरा हुआ पठार व धातु की विद्यमानता धातुकर्म के अनुकूल थी, पर यहाँ की पारिस्थितिकी नागरीकरण में सहायक न हो सकी। उनके हथियार, शृंगिकाकार तलवार, मानवाकृति व मत्स्य भाले मानसूनी घने जंगलों व नदियों में शिकार व यायावर जीवन के अनुकूल ही थे। उनके धातुकर्म से यह बात ज्ञात होती है कि उनके समाज में यह कार्य घुमक्कड़ लोहारों द्वारा ही, जो कि अपने कबीले के बंधनों को तोड़कर मुक्त हो गये थे, संपन्न किया जाता था। धातु की बहुलता के होते हुए भी एक भी पात्र का न मिलना उनके यायावर जीवन का ही द्योतक है। उनके स्थलों से आबादी के टीलों का न मिलना भी इस मत की पुष्टि करता है। दोआब का उपनिवेशीकरण कालान्तर लौह तकनीक के ज्ञान तथा प्रचुर मात्रा में लोहे की प्राप्ति द्वारा ही संभव हुआ। ताम्र की अपेक्षा लोहे की महत्ता उसकी कठोरता न होकर उसकी प्रचुरता में है। ताम्राश्मीय संस्कृतियों का धातुकर्मी विकास, संभवतः पारिस्थितिकी के प्रभाव और अयस्कों की न्यूनता के कारण न हो सका, सँकरी गादयुक्त जलोढ़ पट्टियों से अतिरिक्त उत्पादन इतना नहीं हो सकता था कि वे धातु-कर्मियों व अन्य कारीगरों का निर्वाह कर सकते, न नागरीकरण के लिए यह पर्याप्त ही था।

अध्याय 6 : संदर्भिका

इस अध्याय विषयक मुख्य ग्रन्थ :

D.P. Agarwal : Copper Bronze Age in India, 1971 (Delhi).

J.R. Caldwell and S.M. Shahmirzadi. : Tal-i-Iblis, 1966 (Spring field).

J.M. Casal : Fouilles de Mudigak, 1961 (Paris).

V.G. Childe : New Light on the Most Ancient East, 1957 (New York)

G. Clark and S. Piggott. : Prehistoric Societies, 1965 (London).

H.H. Coghlan : History of Technology, Vol. 1, 1954 (Oxford).

E.W. Ehrich : Chronologies in World Archaeology, 1965 (Chicago).

G. Daniel : The Idea of Prehistory, 1964 (Harmondsworth).

V.N. Misra and M.S. Mate. : Indian Prehistory : 1964, 1965 (Poona).

E.J.H. Mackay : Further Excavation an Mohenjodaro, Vol. 1 & 2, 1937-38 (Delhi)

J. Marhall : Mohenjodaro and the Indus Civilisation, 1921 (Kandu)

Sanahullah Khan : In Mohenjodaro and the Indus Civilisation, Led by J. Marshall 1931 (London).

L. Aitchison : A History of Metals, Vol. 1, 1960 (London).

मुख्य लेख

H.C. Bharadwaj : Bharti, Bull. of the Col. of India, Vol. 9, at 2, p. 57, 1965-66.

Lamberg-Karlovsky : American Anthropologist, Vol. 69, p. 145, 1967.

D.P. Agarwal and Statira Guzder. : Paper presented at 28th I. O. C. Canberra, January 1971.

E. Khan : Pakistan Archaeology, 1964-65.

Reports in : British Assoc. for the Advance of Sci. Report from 1928 to 1938.

J.A. Dunn : Bull. of the Gel. Survey of India, No. 23, 1965 (Delhi).

G.G. Majumdar and S.N. Rajaguru : Bull. of the Deccan Coll. Res. Inst., Vol. 23, p-31, 1962-63.

S.P. Gupta : The Jour. of the Bihar Res. Soc., Vol. 4, p-147, 1963

R. Heine-Geldern : Jour. of Ind. Soc. of Orient Art., No 4, p-87, 1936.

B.B. Lal : Ancient India, No. 7, p-20, 1951.

B.B. Lal : Antiquity, Vol. 46, p-282-287, 1972.

R. Heine-Geldern : Jour. of Ind. Soc. of Orient Art, No. 4, p-87, 1936

B.B. Lal : Ancient India, No. 7, p-20, 1951.

B.B. Lal : Antiquity, Vol. 46, p-151, 1956.

R. Heine-Geldern : Man, vol. 46, p-151, 1956.

V.A. Smith : Indian Antiquary, Vol. 34, p. 229, 1905. (Poona)

M.N. Deshpande : Indian Prehistory. 1964, (eds.) V.N. Misra and M.S. Mate. 1965 (Poona)

S.P. Gupta : Indian Prehistory. 1964, (eds.) V.N. Misra and M.S. Mate. 1965 (Poona)

✪✪✪

अध्याय 7

उपसंहार

पिछले अध्यायों में हमने विभिन्न ताम्राश्मीय व लौहकालिक संस्कृतियों की पुरातात्त्विक सामग्री, पारिस्थितिकी, तकनीकी स्तर और कालानुक्रम का अध्ययन किया। अब तक केवल आधार सामग्री को प्रस्तुत किया गया था, अब हम इन बहुमुखी अध्ययनों के आधार पर एकत्र हुई सामग्री का पुरैतिहासिक पुरातत्त्व के पुनः निर्माण के लिए प्रयोग करेंगे।

I. प्राग्हड़प्पा और हड़प्पा काल

हमने देखा कि भारत-पाक उपमहाद्वीप के उत्तर-पश्चिम में, पाक-ईरान सीमा के क्षेत्र में, किस प्रकार वहाँ के शुष्क पठारों के बीच छोटे-छोटे मरुद्यानों ने सांस्कृतिक वैभिन्य को जन्म दिया। इस प्रकार का वातावरण अलगाव को बढ़ावा देता है। शायद यही कारण है कि हम इस क्षेत्र में इतने प्रकार की संस्कृतियाँ पाते हैं। अफगानिस्तान में हमने मुंडीगाक का साँस्कृतिक अनुक्रम देखा। इसमें काल I हस्तनिर्मित मृद्भांडों से शुरू होता है। और काल IV में पहुँच कर नागरीकरण का विकास दिखलाता है। हमने यह भी देखा कि बहुरंगी अलंकरण, उदाहरणार्थ नाल भांड, बलूचिस्तान के उच्च प्रदेश में सीमित था। दूसरी ओर द्विरंगी अलंकरण, उदाहरणार्थ आम्री, गिरिपाद और मैदानी क्षेत्रों में सीमित था। इन दो शाखाओं का विकास दो स्वतंत्र परम्पराओं के रूप में हुआ। हड़प्पा संस्कृति की जन्मदात्री, एक प्रकार से यह द्विरंगी भांडों की प्रथा ही रही। बलूचिस्तान में हमने नाल, किलीगुल मोहम्मद दंब सदात, बामपुर, पिराक, राना घुंडई आदि का सांस्कृतिक विकास देखा। सिंध में आम्री और कोटदीजी और राजस्थान में कालीबंगन I की प्राग्हड़प्पा संस्कृतियों का अध्ययन भी किया। डेल्स की चरण C संस्कृतियों (अंजीरा II मुंडीगाक I आदि) का पुरातात्त्विक काल-विस्तार 3300 से 3000 ई.पू. था, जबकि इन संस्कृतियों का कार्बन आधारित काल-विस्तार 3200 से 2800 ई.पू. था। चरण व संस्कृति (आम्री I व II मुंडीगाक II) आदि का पुरातात्त्विक कालविस्तार 3000-2700 ई.पू., कार्बन आधारित कालानुक्रम 2800 से 2600 ई.पू. है। चरण E संस्कृतियाँ, जो कि सही मानों में प्राग्हड़प्पा कालिक हैं, का पुरातात्त्विक काल विस्तार 2700 से 2400 ई.पूर्व और कार्बन आधारित 2600 से 2400 ई. पूर्व है।

हमने यह भी देखा कि संभवतः धातुकर्म की उत्पत्ति ताल-ए-इबलिस में हुई। मुंडीगाक में हमने धातुकर्म तकनीकों का स्तरित विस्तार देखा। परंतु हड़प्पा संस्कृति में धातुकर्म एकाएक अपने पूर्ण विकसित रूप में प्रकट होता है। प्राग्हड़प्पा काल में ताम्र बहुत न्यून है। मुंडीगाक I में से कम टिन वाला कांस्य मिला है और नाल से सीसे का मिश्रण मिलता है।
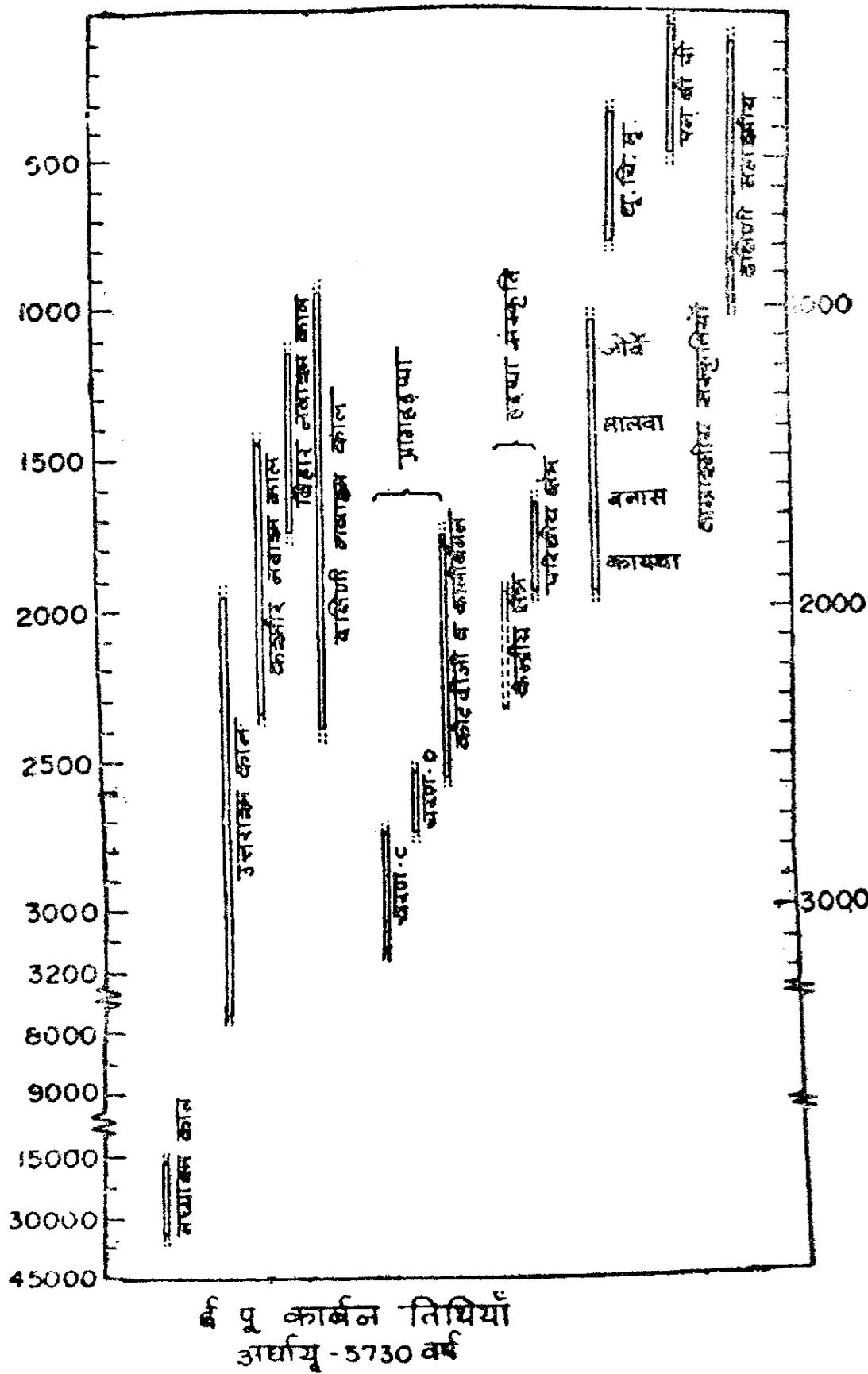
आरेख १५ : भारत-पाक उपमहाद्वीप की समस्त पुरैतिहासिक एवम् लौहकालिक संस्कृतियों की कार्बन-तिथियों पर आधारित कालानुक्रम

उत्तर-पश्चिम में चरण E में समस्त क्षेत्र की सांस्कृतिक एकरसता, सांस्कृतियों के नागरीकरण की ओर अग्रसर होने की सूचक हैं। उदाहरणार्थ मुंडीगाक IV में एक महल और एक बड़ा मंदिर, कोटदीजी और कालीबंगन I में किलेबंदियाँ आदि नागरीकरण की प्रक्रिया के द्योतक हैं।

हड़प्पा संस्कृति उत्तर-पश्चिम में एकाएक पूर्ण विकसित रूप में उदित होती है। यह उल्लेखनीय है कि हड़प्पा संस्कृति एक अर्द्ध-शुष्क पारिस्थितिकीय क्षेत्र में, जो कि सप्तसिंधु से सिंचित होता था, फैली थी। इस सांस्कृतिक और पारिस्थितिकीय समरसता में एक प्रकार का साम्य है। राइक्स आदि ने इस क्षेत्र की बढ़ती हुई शुष्कता के सिद्धांत का खंडन किया है। दूसरी ओर सिंह के राजस्थान की झीलों पर पराग-आधारित अनुसंधानों ने दर्शाया है कि लगभग 3000 ई. पूर्व वहाँ एक आर्द्र जलवायु थी। लेकिन 1700 ई. पूर्व में शुष्कता का दौर प्रारंभ हो जाता है। इस संस्कृति का केन्द्रीय कालानुक्रम लगभग 2350 ई.पू. से 2000 ई.पू. तथा परिधीय क्षेत्रों का काल-विस्तार 2000 ई.पू. से 1700 ई.पू. था। इस प्रकार हम देखते हैं कि तीसरी सहस्राब्दी से 1700 ई.पू. तक, संस्कृतियाँ यहाँ विकास पर थीं। 1700 ई.पू. के लगभग ये संस्कृतियाँ लुप्त होने लगीं। पुरातात्त्विक और जलवायु संबंधी प्रमाणों में ऐसा तादात्म्य सिंह के निष्कर्षों का प्रतिपादन करता है।

तकनीकी क्षेत्र में हमने देखा कि लगभग 70: सैंधव उपकरण शुद्ध ताम्र के थे। धातु मिश्रण ऊपरी स्तरों में अधिक व्यापक था। स्पैक्ट्रमी विश्लेषण खेत्री के अयस्कों के सैंधव उपकरणों के बीच बहुत साम्य दर्शाया है। सैंधव लोग तरह-तरह के पात्र व उपकरण बनाते थे जिनके लिए विभिन्न प्रकार की तकनीकों का प्रयोग होता था। जैसे- हथौड़ियाना, तापानुशीतन, रिवेटिंग, बंद साँचों और लुप्त मोम प्रक्रिया का ढालने में उपयोग। हड़प्पा संस्कृति धातु में पुरैतिहासिक काल की सबसे संपन्न संस्कृति थी।

हमने कालानुक्रमों का विवेचन पुरातात्त्विक और कार्बन तिथिकरण के आधार पर अलग-अलग किया था जिसका सारांश निम्नलिखित है।

क. चरण C संस्कृतियाँ

(अंजीरा II, मुंडीगाक I, रानाघुंडई I आदि)

पुरातात्त्विक - लगभग 3300 - 3000 ई. पू.

कार्बन तिथियाँ - लगभग 3200 - 2800 ई.पू.

ख. चरण D संस्कृतियाँ

(आम्री I और II, मुंडीगाक II, अंजीरा III आदि)

पुरातात्त्विक - लगभग 3000 - 2700 ई. पू.

कार्बन तिथियाँ - लगभग 2800 - 2600 ई.पू.

ग. चरण E संस्कृतियाँ

(हड़प्पा से पहले की संस्कृतियाँ)

पुरातात्त्विक - लगभग 2700 - 2400 ई. पू.

कार्बन तिथियाँ - लगभग 2600 - 2300 ई.पू.

घ. हड़प्पा संस्कृति

पुरातात्त्विक - लगभग 2350 - 2000 ई. पू.

कार्बन तिथियाँ -

केन्द्रीय क्षेत्र- लगभग 2300 (या और पहले) से 2000 ई.पू.

परिधीय क्षेत्र- लगभग 2000-1700 ई. पू.

भारत-पाक महाद्वीप के उत्तर-पश्चिम में हमने देखा कि अनेक संस्कृतियाँ छोटे-छोटे क्षेत्रों में फैली हुई थीं। ताम्र का सीमित प्रयोग उन्हें ज्ञात था परंतु उस पारिस्थितिकी में कोई अतिरिक्त उत्पादन संभव नहीं था। इस कारण यह ग्राम-संस्कृतियाँ नागरीकरण तक नहीं पहुँच सकीं। जो लोग सिंधु घाटी में उतर आये वे ही सभ्यता की ओर अग्रसर हो पाये। कूबड़ वाले साँड के डिजाइनों का प्राचुर्य यातायात और कृषि में चौपायों की शक्ति के उपयोग का ज्ञान दर्शाता है। समाज में अनेक प्रकार के परिवर्तन चरण E संस्कृतियों को नागरीकरण की दहलीज पर खड़ा कर रहे थे। धातुकर्म का विकास, कृषि तकनीकों में सुधार, पशुओं को पालतू बना कर उनकी शक्ति का प्रयोग और व्यापार आदि सब प्रक्रियाएँ इस सामाजिक परिवर्तन में योगदान दे रही थीं।

संसार की सभी आदि सभ्यताएँ चाहे वह नील नदी की हों या चाहे दजला फरात की या सिंधु की, सभी अर्द्ध-शुष्क जलवायु में और उर्वर जलोढ गाद पर पनपीं। सिंधु उपत्यका में भी अतिरिक्त उत्पादन ने बाजारों को जन्म दिया होगा जिन्हें नियंत्रण में रखने के लिए और शांति बनाये रखने के लिए नागरिक व्यवस्था का जन्म हुआ होगा। धातुकर्मी और विविध प्रकार के शिल्पियों को समाज अतिरिक्त उत्पादन के आधार पर पाल सकता था। बार-बार की बाढ़ों ने ऊँचे विशाल मंचों पर स्थित पूर्वनियोजित नगरों के निर्माण के लिए किसी केन्द्रीय सत्ता को जन्म दिया होगा, जिसके नियंत्रण के कारण समाज के हर क्षेत्र में एकरसता और मानकीकरण व्याप्त हुआ होगा। इस केन्द्रीय शक्ति को सुदृढ़ बनाने में दो और महत्त्वपूर्ण एकाधिकारों ने योग दिया होगा। यह एकाधिकार थे ताम्र अयस्कों और रोहरी तथा सुक्कुर के चर्ट भंडारों पर। इस संस्कृति के आयुध थोड़े से और कमजोर बनावट के लगते हैं। यह तथ्य इस बात का द्योतक है कि युद्ध की आवश्यकता इस काल में बहुत कम थी।

विभिन्न प्रकार की प्राकृतिक शक्तियों जैसे नदी का प्रवाह, वायु, पशु शक्ति आदि का नाव और पहियों आदि के प्रयोग से उत्पादन और यातायात में क्रांतिकारी परिवर्तन संभव हुए। मकरान और गुजरात के बंदरगाहों से सामुद्रिक व्यापार होता था। शायद मेलुहा का तांबा राजस्थान से पश्चिम एशिया को निर्यात होता था।

हड़प्पा संस्कृति एक बड़े भू-भाग में फैली हुई थी। इसका फैलाव एक विशेष प्रकार के पारिस्थितिकीय क्षेत्र में हुआ था, परंतु यह संस्कृति पूरे भू-भाग में किसी एक ही समय

पर साम्राज्य की तरह नहीं फैली थी। इसके केन्द्रीय क्षेत्र, परिधीय क्षेत्रों के मुकाबले कुछ पूर्ववर्ती थे।

सैंधव सभ्यता के अंत के विषय में कुछ निश्चित रूप से कहना अभी संभव नहीं है। राइक्स के विचार, हड़प्पा संस्कृति के अंत की व्याख्या करने की कोशिश में उसके प्रादुर्भाव को ही असंभव बना देते हैं। एक संस्कृति जो प्रारंभ से ही निरंतर बढ़ती हुई सर्वव्यापी कीचड़ की झील से जूझती रही हो, उसका नागरीकरण होना असंभव ही था।

II ताम्राश्मीय संस्कृतियाँ

मध्य भारत और दक्षिण की अधिकतर संस्कृतियाँ सँकरे जलोढ मैदानों में पनपी थीं, इस कारण कृषि उत्पादन पर एक सीमा बँध गयी थी। काली कपासी मिट्टी को बिना भारी लोहे के हलों के जोतना दुष्कर था। हाल में धवलीकर आदि ने इन स्थापनाओं को गलत बताया है। उनका भ्रम है कि आज की काली-कपासी मिट्टी जो ताम्राश्मीय स्थलों के पास पायी जाती है वह प्राचीन काल में भी ऐसी ही थी। हेग्डे ने दिखलाया है कि काली कपासी मिट्टी कुछ सौ सालों के अंदर भी बन सकती है। बहुत से ताम्राश्मीय काल के जलोढ मैदान कालांतर में काली कपासी मिट्टी में परिवर्तित हो गये।

अध्याय चार में कालानुक्रमिक विवेचन के आधार पर हम निम्न निष्कर्षों पर पहुँचते हैं:-

उत्तर-पश्चिमी संस्कृतियां

(क) शाही टंप - लगभग 2000-1900 ई.पू. (पुरातात्त्विक)

(ख) झूकर - लगभग 1900 ई.पू. (पुरातात्त्विक)

(ग) झंगर - लगभग 900 ई.पू. (पुरातात्त्विक)

(घ) कब्रिस्तान-लगभग - 1750 से 1400 ई.पू. (पुरातात्त्विक)

मध्य व उत्तर भारत व दक्कन की संस्कृतियां

(क) कायथा - लगभग 2000-1800 ई.पू. (कार्बन तिथियाँ)

(ख) बनास - लगभग 2000-1400 ई.पू. (कार्बन तिथियाँ)

(ग) मालवा - लगभग 1700-1400 ई.पू. (कार्बन तिथियाँ)

(घ) जोर्वे - लगभग 1400-1100 ई.पू. (कार्बन तिथियाँ)

(ङ) गेरुए भांड - लगभग 1800-1400 ई.पू. (ताप संदीप्तिक तिथि)

ताम्राश्मीय संस्कृतियों में ताँबा और लघ्वश्म दोनों ही का उपयोग होता था। केवल बनास संस्कृति ही ऐसी थी जिसमें लघ्वश्मों का प्रयोग नहीं के बराबर था। इन संस्कृतियों में धातु मिश्रण ज्ञात था और कांस्य बनाने के लिए 1-5% तक टिन का उपयोग होता था,

सीसा 1-2% तक प्रयोग होता था लेकिन संखिया मिश्रण के कोई उदाहरण अभी तक नहीं पाये गये हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि अधिकतर खेत्री के आक्साइड ताम्र-अयस्क भंडारों का उपयोग हुआ था। ढलाई खुले साँचों में होती थी और तापानुशीतन तकनीक का ज्ञान इन्हें नहीं था।

ताम्र-संचय संस्कृति के ताम्र उपकरणों में धातु मिश्रण के निश्चित आसार नहीं हैं। यह लोग बंद साँचों में शुद्ध ताम्र की भी ढलाई कर सकते थे। धातु प्राचुर्य में इनका स्थान केवल सैंधवों के बाद आता है।

पहले यह ताम्राश्मीय संस्कृतियाँ सैंधव संस्कृति से परवर्ती मानी जाती थी। परंतु कार्बन निथिकरण ने यह दर्शाया है कि लगभग 2000-1700 ई.पू. तक के काल में परिधीय सैंधव और ताम्राश्मीय संस्कृतियाँ, काल-दृष्टि से अंतर्व्यापी थीं। बनास संस्कृति में बड़े-बड़े सामूहिक चूल्हे, दीर्घाकार इमारतें और अनेक प्रकार के मृद्भांड मिलते हैं। इन ताम्राश्मीय संस्कृतियों पर सैंधवों का बहुत हल्का प्रभाव तो नजर आता है, लेकिन सैंधव परंपरा का आकस्मिक अंत बहुत स्पष्ट है। हो सकता है कि बनास और कायथा संस्कृति के लोग आर्य आक्रामक रहे हों। यह तो निश्चित ही है कि उनकी संस्कृति पर पश्चिमी एशिया का बहुत स्पष्ट प्रभाव था। ये संस्कृतियाँ कभी नागरीकरण प्राप्त न कर सकीं, जिसका कारण हमारे विचार से पारिस्थितिकीय अवरोध था। सँकरे जलोढ मैदान अतिरिक्त कृषि उत्पादन के लिए पर्याप्त नहीं थे।

III ताम्र-संचय संस्कृति

ताम्र-संचय धातु उपकरण काफी प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। इनका क्षेत्र मुख्यतः गंगा की घाटी और उड़ीसा व चंबल का प्रदेश है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस संस्कृति में सिंहभूमि के ताम्र अयस्क भंडारों का उपयोग होने लगा था। ताम्र-संचय संस्कृति का प्रादुर्भाव संभवतः छोटा नागपुर के जंगली पठार में हुआ। वहां पर सादी, चपटी कुल्हाड़ियाँ और छड़-कुल्हाड़ियाँ पायी जाती हैं। छड़-कुल्हाड़ियों का उपयोग संभवतः अयस्क खदान में होता था। अब दक्षिण-पूर्वी एशिया में विकसित धातुकर्म का प्रारंभ 2300 ई.पू. तक माना जाता है इसलिए ताम्र-संचय संस्कृति का उद्भव दक्षिणी पूर्वी एशिया के प्रभावों के अंतर्गत भी हो सकता है। वैसे सभी परिस्थितियाँ स्वतंत्र धातुकर्म के प्रादुर्भाव के लिए इस क्षेत्र में ताम्र-संचय संस्कृति के लिए विद्यमान थीं।

इनके उपकरण आखेट के लिए बहुत उपयुक्त जान पड़ते हैं। मानवाकृति, चिड़ियों पर फेंक कर मारने के लिए, शृंगिकाकार-तलवारें बड़े जानवरों को गढ़ों में भगाकर मारने के लिए और मत्स्य भाले मछली मारने के लिए बहुत उपयुक्त थे। दोआब के प्राचीन घने जंगलों को काटने के लिए कुल्हाड़ियों का उपयोग होता होगा। यह आश्चर्यजनक है कि न तो इस संस्कृति के कोई आवासी टीले, न ही किसी प्रकार के पात्र मिलते हैं। संपूर्ण उपकरण एक यायावर, शिकारी आदिम जाति की संस्कृति का आभास देते हैं।

ताम्र-संचय अक्सर गेरुए भांड-संस्कृति के साथ जोड़े जाते हैं। पहली बार अब सेपाई से कुछ ताम्र-संचय उपकरण एक लाल स्लिप वाले भांडों के साथ मिले हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, गेरुए भांडों की तिथि 1800-1400 ई.पू. ताप संदीप्तिक तिथिकरण के अनुसार निश्चित की गयी है।

IV लौहयुगीन संस्कृतियाँ

सबसे पहले हम विभिन्न लौहकालीन संस्कृतियों के कालानुक्रम देंगे।

(क) स्वात कब्रें (गालीगाई काल V) - लगभग 1000 ई.पू. (कार्बन तिथि)

(ख) बलूची संगोरा कब्रें - लगभग 900-800 ई.पू. (पुरातात्त्विक)

(ग) पिराक लौह काल - लगभग 800 ई.पू. (कार्बन तिथि)

(घ) चित्रित धूसर मृत्भांड - लगभग 800-350 ई.पू. (कार्बन तिथि)

(ङ) एन.बी.पी. भांड - लगभग 550-50 ई.पू. (कार्बन तिथि)

(च) काले-लाल भांड - लगभग 700 ई.पू. (कार्बन तिथि)

(छ) दक्षिणी लौह काल का आरंभ - लगभग 1000 ई.पू. (कार्बन तिथि)

(ज) विदर्भ लौह काल का प्रांरभ - लगभग 600 ई.पू. (कार्बन तिथि)

(झ) महाश्म - लगभग 1000-100 ई.पू. (कार्बन तिथि)

लौहधातु का प्रसार हिट्टाइट साम्राज्य के विघटन के बाद लगभग 1200 ई.पू. प्रारंभ होता है। ईरान में पहले पहल लोहा निक्रोपोलीस A में मिलता है। परंतु इसका प्राचुर्य स्याल्क निक्रोपोलीस B में ही दिखता है। स्याल्क B की तिथि गिर्शमान के अनुसार 900 ई.पू. है। स्वात घाटी में लोहा 1000 ई.पू. से प्रकट होने लगता है। पिराक में 800 ई.पू. काफी लोहा मिलता है। उत्तर पश्चिम की संगोरा कब्रों से भी काफी लोहा मिला है। इनकी स्याल्क B से सादृश्यता के कारण 900-800 ई.पू. तिथि मानी गयी है।

राजस्थान में चित्रित धूसर भांड 800 ई.पू. प्रकट होते हैं। दोआब के दूसरे छोर में सोनपुर, चिरांद और महिषदल में भी लौह काल का प्रादुर्भाव 700 ई.पू. हुआ। परंतु दक्षिण से केवल हल्लुर से 1000 ई.पू. की तिथि है। इस प्रकार उत्तरी भारत में लौह कर्म का प्रसार संभवतः उत्तर पश्चिम के भू-मार्ग से हुआ होगा। परंतु शायद दक्षिण में सामुद्रिक संपर्क द्वारा।

चित्रित धूसर-भांड की अधिक प्राचीनता नये प्रमाणों के आधार पर तर्कसंगत नहीं लगती है। इसका तिथिकरण 1200 ई. पू. ठहराना तर्कों के विपरीत जाता है। इसका काल प्रसार आठवीं से चौथी शताब्दी ई.पू. ही माना जा सकता है। दोआब में चित्रित धूसर भांड संस्कृति के लोगों ने जंगलों को साफ करके कृषि उत्पादन का धीरे-धीरे विस्तार किया। परंतु नागरीकरण एन.बी.पी. संस्कृति की ही देन है। जब बिहार के प्रशस्त लौह भंडारों का

उपयोग दोआब के घने जंगलों में कृषि उत्पादन के लिए हुआ तो प्रचुर अतिरिक्त उत्पादन ने दोआब के नागरीकरण को लगभग चौथी तीसरी सदी ई.पू. संभव बनाया।

महाश्मों का मुख्य क्षेत्र दक्षिण में है, परंतु ये आसाम से हिमाचल प्रदेश तक कहीं-कहीं पर पाये जाते हैं। प्राप्त पुरातात्त्विक सामग्री के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि महाश्मीय संस्कृति का संचरण दक्षिण से विदर्भ होता हुआ उत्तर प्रदेश में हुआ।

सारांश

पिछले अध्यायों में हमने विभिन्न पुरैतिहासिक संस्कृतियों के अवशेषों, तकनीकी ज्ञान, धातु प्राचुर्य और कालानुक्रम का विवेचन उनके पारिस्थितिकीय परिवेश में किया। भारतवर्ष में एक ही काल में, विभिन्न क्षेत्रों में तरह-तरह की संस्कृतियाँ पनपीं और फली फूलीं। विभिन्न क्षेत्रों का सामाजिक एवं आर्थिक विकास की गतियाँ भिन्न थीं, हमने यह भी देखा कि संस्कृतियों के विकास और ह्रास में पारिस्थितिकी और तकनीकी ज्ञान का कितना महत्त्वपूर्ण योग होता है। भारत में अब इस प्रकार के पुरातात्त्विक अध्ययनों के लिए बहुमुखी और बहु-आयामीय अनुसंधानों की आवश्यकता है। आज विभिन्न भारतीय वैज्ञानिक केन्द्रों में अधुनातन तकनीकें प्राप्त हैं जिनका पुरातात्त्विक अध्ययनों के लिए बहुत व्यापक प्रयोग हो सकता है। यह विषद कार्य कुछ व्यक्तियों के वश का नहीं, बल्कि किसी प्रगतिवादी, प्रबुद्ध संस्थान के लिए ही संभव है। हम यह आशा करते हैं कि हमारा यह प्रयास नयी और पुरानी दोनों पीढ़ियों को इस आवश्यकता का आभास करायेगा।

परिशिष्ट

कार्बन तिथियों की विश्वसनीयता

इधर हाल की खोजों से ऐसा प्रतीत होता है कि कार्बन तिथियों में संभवतः कुछ संशोधन की आवश्यकता पड़े। वृक्ष-काल विज्ञान (dendrochronology) पर आधारित तिथियों और कार्बन तिथियों की तुलना करने पर अपसारिता (divergence) का आभास होता है। हर साल वृक्षों के तनों में एक वलय (ring) बढ़ता जाता है। कैलिफोर्निया के पर्वतों पर कुछ वृक्ष ऐसे हैं जो चार-पाँच हजार साल तक जीवित रहते हैं, उदाहरणार्थ ब्रिसलकोन चीड़, सिकोया आदि। इन वृक्षों के तने काटकर वृक्ष-वलय (tree ring) गिने गये और इस प्रकार वृक्ष-काल विज्ञान के आधार पर उनका तिथि निर्धारण किया गया। ऐसे वलय निकाल कर जब उनका कार्बन तिथिकरण किया गया तो उनमें परस्पर अपसारिता दृष्टिगोचर हुई। इस खोज के आधार पर इस अपसारिता की गणना की गयी और तदनुसार कार्बन तिथियों में संशोधनार्थ समीकरण सुझाये गये। परिशिष्ट तालिका 1 में हमने विभिन्न वैज्ञानिकों द्वारा प्रस्तुत समीकरण दिये हैं और उनका प्रभाव सैंधव काल-विस्तार (कार्बन आधारित) पर दर्शाया है। कुछ अमरीकी पुराविद् आजकल "मास्का-फैक्टर" (तालिका 1) लगाकर कार्बन तिथियाँ प्रकाशित करते हैं।

अग्रवाल ने मिश्र की सुनिश्चित पुरातात्त्विक सामग्री पर आधारित दूसरी व तीसरी सहस्राब्दि की कार्बन तिथियों को उनके संशोधित रूपों और पुरातात्त्विक तिथियों से तुलना करने पर पाया कि वृक्ष-काल निर्धारित तिथियाँ, पुरातात्त्विक तिथियों से कहीं पूर्ववर्ती हैं। इस तथ्य से यह आवश्यक हो जाता है कि वृक्ष-वलयों की और बारीकी से जाँच की जाय। चूँकि सारे वृक्ष-वलय कैलिफोर्निया के 10,000 फुट ऊँचे पर्वतों के वृक्षों से लिये गये हैं, कुछ विद्वानों का विचार है कि इस ऊँचाई पर कार्बन-14 के प्राकृतिक उत्पादन में अंतर हो सकता है जो काल-गणना में प्रतिलक्षित होता है। वृक्ष-वलय प्रत्येक वर्ष बनते हैं और फिर वृक्ष के उपापचय (metabolism) में भाग नहीं लेते। परंतु हाल के अनुसंधानों से ज्ञात हुआ है कि अनेक प्रक्रियाएँ हैं जो इस कालअपसारिता को जन्म दे सकती हैं, जैसे आंतरिक कोशिका रस, काष्ठ-विदूषण, लीसे आदि का त्रिज्य-संचरण (radial diffusion) आदि। 1954 के बाद आणविक-विस्फोटों के कारण वातावरण में अप्राकृतिक न्यूट्रानों द्वारा जनित कार्बन-14, 1963 में दुगना हो गया था। यदि त्रिज्य-संचरण न होता तो यह विस्फोट जनित कार्बन-14, 1954 से पुराने वृक्ष-वलयों में नहीं होना चाहिए। परंतु यह 1954 से पहले के वलयों में भी पाया जाता है जिसका अर्थ यह हुआ कि त्रिज्य-संचरण वृक्ष-वलयों के बनने के बाद तक होता रहता है। इस प्रकार वृक्ष-वलयों का कार्बन-तिथियों की विश्वसनीयता जाँचने के लिए विशेष महत्त्व नहीं रह जाता।

अभी तक की खोजों से प्रतीत होता है कि 2000 ई.पू. तक की कार्बन व पुरातात्त्विक तिथियाँ परस्पर संगत हैं। उसके बाद 2000-2500 ई.पू. तक कुछ संशोधन की आवश्यकता प्रतीत होती है। क्योंकि कार्बन तिथियाँ, पुरातात्त्विक तिथियों से कुछ परवर्ती लगती हैं। परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि ईराक और मिश्र के सुनिश्चित पुरातात्त्विक स्तरों से विश्वसनीय नमूनों का काल-निर्धारण करके इस बात का पता लगाया जाय कि अपसारिता यदि है तो कितनी है। तदनुसार ही संशोधन-समीकरण प्रस्तुत किये जायँ। इस अवस्था में कार्बन-तिथियों का संशोधन विभ्रामक होगा। अभी अनेक अनिश्चितताएँ हैं जिनका हल पहले होना चाहिए। तब तक कार्बन तिथियों (अर्धायु 5730 वर्ष पर आधारित) को असंशोधित रूप में ही प्रयोग करना चाहिए। "मास्का फैक्टर" आदि लगाने से सैंधव संस्कृति का मोहनजोदड़ो में अंत 2400 से 2800 ई.पू. होता है जो असंभव है। अक्काड के सार्गन और ईसिन-लार्सा काल के सैंधव संस्कृति के 2300-2000 ई.पू. के संपर्क अकाट्य हैं।

इस प्रकार हमारे विचार से अगले दशक तक रेडियो कार्बन तिथियों का अपना संवत् माना जाय और उन्हें संशोधित न किया जाय न ग्रिगरी (ईसाई) संवत् (Cregorian Calender) से मिलाया जाय। अगले 8-10 साल में आधारभूत समस्याएँ हल हो जायँगी और हम अधिक सुदृढ़ आधार पर संशोधन समीकरण, यदि आवश्यकता हुई तो, प्रस्तुत करेंगे।

परिशिष्ट तालिका 1

C=1.4 R – 1100 ---(1)

C=1.4 R – 900 ---(2)

C=1.26 R – 700 ---(3)

$C=112+0.15X10^{*-3}R^{2}-0.138X-10^{-7}R3$ ---(4)

C=R+350 (2099-1700) ई.पू. काल के लिए

&

C=R+450 (2499-2100) ई.पू. काल के लिए ---(5)

(C=संशोधित तिथि R=कार्बन तिथि)

(समीकरण 5: MASCA FACTOR)

यदि हम सैंधव संस्कृति के मोहनजोदड़ो के काल-विस्तार पर उक्त समीकरण संशोधनार्थ प्रयुक्त करें, तो उपर्युक्त काल-विस्तार प्राप्त होते हैं। स्पष्ट है कि असंशोधित कार्बन तिथियाँ पुरातात्त्विक काल-विस्तार के निकटतम हैं।

परिशिष्ट : संदर्भिका

समीकरण 1 के लिए :

Stuiver, M. and Suess, H.E., 1966., on the Relationship, Between Radiocar-

bon 'dates and True Sample Age's Radiocarbon. Vol. 8, pp. 534-540.'

समीकरण 2 के लिए :

Stuiver, M., 1967, Origin and Extent of Atmospheric C-14 Variations during the past 10,000 years, in 'Radiocarbon Dating and Methods of Law-Level Coguting, Vienna, Int. At. Energy Agency, pp. 27-40.

समीकरण 3 के लिए :

Stuiver, M., 1970, Long Term C-14 Variations, in 'Radocarbon Variation and Absolute Chronology.' Ed. Olsson, I.U., 197-213.

समीकरण 4 के लिए :

Wendland, W. M., Donley, D.L., 1971. Radiocarbon-Calender Age Relationship, Earch and Planetary Science Letters., Vol.11,pp. 135-139.

समीकरण 5 के लिए :

Michael, H.W. and Ralph, E.K., 1970. Correction Factors Applied to Egyptian 'Radiocarbon dates from Era Before Christ in 'Radiocarbon Variation and Absolute Chronology., (Ed.). Olsson, I.U., pp. 109-120.

अन्य संबन्धित ग्रन्थ व लेख :

Agarwal, D. P., 1971, 'The Copper-Bronze Age in India.,' Munshiram Manoharlal, New Delhi.

Berger, R., 1970. Ancient Egyptian Radiocarbon Chronology, Phill. Trans. Roy. Soc. Lond.' A. Vol. 269, p. 23-36.

Collis, J, 1971, Thoughts on Radiocarbon Dating in Machie, J., Collis, J., Ewer, D.W., Smith, A., Suess, H. and Renfrew, C., 'Antiquity.' Vol. 45, pp. 200-201.

Jansen. H.S., 1970, Secular Variation of Radiocarbon in Variation and Absolute Chronology., (Ed.) Olsson, I.U., pp. 261-274.

Olsson, I.U., Klasson, M. and abd. Mageed, A, 1972, Uppsala Natural Radiocarbon Measurements XI, 'Radiocarbon' Vol. 14 (1), pp. 247-271.

Walton, A. and Boxter, M.S., 1968, Calibration of the Radiocarbon time Scale, 'Nature', Vol. 220, pp. 475-476.

✪✪✪

शब्दावली

अ

अंगारा-शलाका	Poker
अंगूठे के नख से उत्कीर्ण मृद्भाण्ड	Thumb nail incised pottery
अतिनूतन	Pliocene
अधिकेन्द्र	Epicentre
अनगढ़	Coarse
–भाण्ड	Coarse ware
–पत्थर	Rubble
अन्त्येष्टि कलश	Funerary vase
–पात्र	Funerary pot
अंतर्नत किनारा	Inverted rim
अंतर्वर्ती	Intermediate
–क्षेत्र	Transitional zone
अंतर्वेधी	Intrusive
अनलंकृत	Plain
–लाल मृद्भाण्ड	Plain Red ware
अन्वेषक	Explorer
अननुमेय	Unpredictable
अनुष्ठान	Ritual
अपकर्ष	Degenerate
अपचयन	Reduction
अपरदन करना	Erode
अपशिष्ट शल्क	Waste flake
अपक्षरण	Weathering
अपसारिता, अपसरण	Divergence
अपेक्षित अलगाव का क्षेत्र	Area of relative isolation
अभ्रक	Mica

अभ्रकी	Micaceous
डिजाइन	Motif
अयस्क	Ore
–मल	Slag
अर्धचन्द्राकार	Crescent Shape
अर्ध यायावर	Semi nomadic
–शुष्क	Semi arid
अलगाव का क्षेत्र	Area of isolation
अल्प मूल्य रत्न	Semi precious stone
अलंकरण	Decoration
अवक्रमण	Devolution
अवठ किनारा	Rim
अवशेष	Remains
अवस्था	Stage
अस्तरीय	Unstratified
असाद्दश्यमूलक डिजाइन	Non-representational
अस्थि कलश	Urn
–भंग शवाधान	Fractional burial
अक्षीय नलिका	Axial tube
आंकड़े	Data
आक्साइड	Oxide
आडी (जाली)	Cross hatched
आघातवर्ध्यता	Malleability
आदिम	Primeval
आधारभूत सामग्री	Basic data
आरेख	Figure
आवास	Habitat
आवासी इमारत	Residential building

इ

इतर	Non
–हड़प्पा	Non- Harappa

उ

उत्कीर्ण	Incise
–अलंकरण	Incise decoration
उत्खनक	Excavator
उत्खनन	Excavation
उत्तर	Post
उद्गतहनुता	Proguathy
उर्ध्वस्थ	Vertical
उपकरण	Implement
उपनिवेशन	Colonisation
उपापचय	Metabolism

ऋ

ऋतुप्रवास	Trans humance

ए

एंटिमनी	Antimony
एन.बी.पी. मृद्भाण्ड	N.B.P. ware
ऐर्रटाइन मृद्भाण्ड	Arretine ware
एलाबास्टर	Alabaster

औ

औजार	Tool

क

कच्ची ईंट	Mud brick
कट्टम कट्टे	Criss cross
कड़ा	Bangle
कब्रगाह	Cemetry
करकेतन	Chalcidony
कलपुंछ	Gazelle
काचली मिट्टी	Faience
काचित भाण्ड	Glazed ware

कांटेदार तलवार	Hooked sword
काल	Period
काल अनुक्रम	Period sequence
काल दोष	Anachronism
काला और दूधिया मृद्भाण्ड	Black and cream ware
कालानुक्रम	Chronology
कालानुक्रमिक अभिलेख	Chronological record
काली कपासी मिट्टी	Balck cotton soil
काली स्लिप पर लाल भूरा मृद्भाण्ड	Red brown on dark ware
काले पर लाल मृद्भाण्ड	Red on black ware
किलेबन्दी	Fortification
कुल्हड़	Goblet
कुल्हाड़ी	Axe
कुल्हाड़ी-बसूला	Axe-adze
कूटक	Pounder
कूबड़वाला साँड	Humped bull
केन्द्रीय क्षेत्र	Nuclear region
केवेलिन	Keolen
केची बेग आक्सीकृत मृद्भाण्ड	Kechi Beg Oxidised ware
केची बेग काले स्लिप पर सफेद मृद्भाण्ड	Kechi Beg shite-on-dark Slip ware
केची बेग बहुरंगी मृद्भाण्ड	Kechi Beg Polychrome ware
केची बेग लाल मृद्भाण्ड	Kechi Beg red ware
कोर, किनारा	Rim
क्रोड	Core
क्रेस्टेड गाइडेड रिज	Crested guided ridge
क्वेटा अभ्रकी मृद्भाण्ड	Quetta Micaceous ware
–आर्द्र मृद्भाण्ड	Quetta wet ware
–पांडु पर काला मृद्भाण्ड	Quetta black on buff ware
क्षरण	Erosion
–चक्र	Erosion circle

ख

खण्ड/पट्ट	Panel
खनिज	Miceral
–शिरा	Mineral vein
खाँचेंदार फलक	Notched blade
खान/खदान	Mine
खानेदार मोहर	Compartmental seal

ग

गढ़न	Moulding
गढ़ना (तपाकर)	Forge
गदासिर/गदाशीर्ष	Mace-head
गर्त्तवृत्त	Pit circle
गरूड़ीय नाक	Acqaitine nose

घ

घिसा कुल्हाड़ा	Ground-celt
घीया पत्थर	Soap stone
घोंघा	Zootecus insularis

च

चक्र	Disc
चक्र मनके	Disc bead
चकमक	Flint
–कल्फर उपकरण	Flint implement
–औजार	Flient tool
–कटार	Flint dagger
चक्रिक मनके	Whirl bead
चमकदार बर्तन	Glazed ware
चमकाना	Burnish
चमकाया लाल	Burnished red
चमकीला लाल मृद्भाण्ड	Lustrous red ware

चर्ट	Chert
–के पतले फलक	Chert ribbon flak
–फलक	Chert blade
चिनाई	Masonry
चित्र बल्लरी	Frienze
चित्रित धूसर मृद्भाण्ड	Painted grey ware
चूड़ी	Bangle
चूना पत्थर	Limestone
चूनेदार मिट्टी	Calcareous clay

छ

छड़-कुल्हाड़ी	Bar celt
छल्ला, वलय	Ring
छल्लाकार आधार वाले कटोरे	Ring based bowl
छिद्रित बर्तन	Perforated vessel

ज

जंगली शीशम	Dalbergin sissoo
जड़ना/जमाना	Encrusted
जनजातीय	Tribal
जमाये हुए अलंकरणयुक्त भाण्ड	Applique decorated ware
ज्यामितिक डिजाइन	Geometric design
जरदोंजी का काम	Filigree work
जल निकास व्यवस्था	Drainage system
जलोढक	Alluvial
ज्वारनद मुख	Estuary
जालायित विन्यास	Trellis-pattern
जाली का काम	Lattice work

ट

टीला	Mound

टेकदार कुल्हाड़ी	Trunnion axe
टोंटीदार नलीवाला	Channelled spout

ठ

ठीकरा	Sherd

ड

डंकदार गेंद	Sling ball
डालराइट	Dolerite

ढ

ढलाई	Casting

त

तकनीक	Technique
तकनीकी	Technical
तन्यता	Ductility
तने वाले कटोरे	Stemmed bowl
तर्कु चक्कर	Spindle whorl
तल/स्तर	Level
तापानुशीतन	Annealing
तापसंदीप्ति	Thermoluminescence
तामड़ा पत्थर	Carnelian
ताम्र युग	Copper age
ताम्र संचय	Copper hoard
ताम्राश्मीय	Chalcolithic
तालिका	Table
त्रि-अरी	Chevron
–अस्थि	Chevron bone
त्रिज्य संचरण	Radial diffusion

थ

थाली	Dish

द

दहन की गयी हड्डियाँ	Cremated bones
दाँतेदार फलक	Serrated blade
द्विरंगी	Bichrome
–परम्परा	Bichrome tradition
दीर्घीकरण	Elongation
दुर्ग	Citadel
दूधिया मृद्भाण्ड	Cream ware

ध

धातु कर्म	Metallurgy
–कर्म सम्बन्धी	Metallurgical
धातु कर्मी	Metallurgist
–प्रगलन	Smelting
–मल	Slag
–मिश्रण	Alloy

न

नखाकार	Scalloped
नतिलंबी भ्रंश	Strike fault
नमूना	Sample
नवाश्म उपकरण	Neolith
नवाश्मीय	Neolithic
नाकेदार सूई	Eyed needle
नागरीकरण	Urbanisation
नालीदार (चषक या तश्तरी)	Corrugated
नितंबी स्तन	Pendulous breast
निरपेक्ष	Absolute
निर्मद भाण्ड	Aceramic
निवासी	Inhabitant
निक्षारित	Etched

–आकृति	Etched figure
निक्षेप	Deposit

प

पँजवई दूधिया सतही मृद्भाण्ड	Punjawai cream surface
पट्ट/खण्ड	Panel
पट्टा/पट्टी	Band
परकोटा	Rampart
पर्णाकार फलक	Leaf blade
–वाणाग्र	Leaf shaped arrow-head
परत	Layer
परम्परा	Tradition
परवर्ती	Latter
परस्पर व्याप्त, अतिव्याप्त	Overlapping
परिष्कृत स्लिप मृद्भाण्ड	Fine slip ware
पश्चप्रवण	Receding
पसलीदार	Ribbed
पांडु	Buff
–स्लिप पर काला मृद्भाण्ड	Black on buff slip ware
–पर चाकलेटी मृद्भाण्ड	Chocolate on buff ware
–गुलाबी लाल मृद्भाण्ड	Orange red on buff ware
स्लिप मृद्भाण्ड	Bufl slip ware
पारिस्थितिकी	Ecology
पाश	Loop
पिंड	Cake
पुरातत्त्व	Archaeology
पुराविद्	Archaeologist
पुरैतिहासिक	Proto-historic
पुलिन	Beach
पूर्व राजवंश	Pre-Dynasty
पूर्वहड़प्पा	Pre-Harappa

पेस्ट	Paste
पोलिंग	Poling
प्रकार	Mode
प्रकाल	Phase
प्रतिरूप	Pattern
प्रतीक	Symbol
प्रमाण	Evidence
प्रवणित किनारा	Bevelled rim
प्रस्तर पात्र	Stone ware
प्रसार	Diffusion
प्राकृत अयस्क	Native ore
प्राकृतिक तल	Natural soil
प्राग्हड़प्पा	Proto-Harappa
प्राग्मृद्भाण्ड	Pre pottery
प्रागैतिहासिक	Pre-history
प्रौढ़ सैंधव	Mature Harappa

फ

फलक	Blade

ब

बढ़ती हुई शुष्कन	Progressive desiccation
बनत/डिजाइन	Design
बनत खंड	Design panel
बस्ती	Settlement
बहिर्वेशन	Extrapolation
बहुरंगी परम्परा	Multi colour tradition Poly chrome tradition
बहुस्तरीय	Multi-level
बहँगी	Yoke
बाँध	Gabar band

बाढ़ निर्मित मैदान	Flood plain
बादली पत्थर	Agate
बालुकाश्म	Sandstone
बाहर निकली गोल आँख	Goggle eye
बुर्ज	Bastion
बेलनाकार	Cylindrical
बेसाल्ट	Basalt
बोला पत्थर	Bola stone
ब्रिनेल	Brinell

भ

भंगुर	Brittle
भण्डार	Repertory
भाण्ड	Ware
भालाग्र	Arrow head
भौतिक रचना	Physiography

म

मंडूरी रंग	Ferruginous colour
मत्स्य काँटा	Fish hook
–भाला	Harpoon
मध्यनूतन	Miocene
मध्याश्म युगीन हथियार	Middle stone age tool
मनका	Bead
मर्तबान	Jar
मरगोल	Voluted
महाश्मीय	Megalithic
मानक	Standard
–विचलन	Standard deviation
मानकीकरण	Standardization
मानवाकृति	Anthropomorph

मानुस मोखा	Man-hole
मियाँ घुंडई पांडु मृद्भाण्ड	Main Ghundai buff ware
मुस्तफा मृद्कृत मृद्भाण्ड	Mustafa temper ware
मूषाएँ	Crucibles
मृण्मूर्ति	Terracotta
मृद्भाण्ड	Pottery
मृत्पिंड	Terracotta-cake
मृत्तिका-शिल्प	Ceramic
मैवंड लाल सतह मृद्भाण्ड	Maiwand red surface ware
मोड़दार (कफोणि) फलक	Elbow blade
मोहर	Seal

य

यायावर	Nomad

र

रांगा	Nickel
रासायनिक विश्लेषण	Chemical analysis
रीढ़दार कटार	Dagger with midrib
--डांसवाली कटार	Tanged dagger with midrib
--फलक	Mid ribbed blade
रूढ़िबद्ध	Conventional
--भू-दृश्य	Formalised landscape
रूपान्तरण	Transformation
रूलेटेड मृद्भाण्ड	Rouletted ware
रेखाच्छान	Hatching
रेखांकित	Graffitti
रेडियोकार्बन तिथि	Radio carbon date

ल

लघु-अश्म	Microlith

–उद्योग	Microlithic Industry
लहरदार अलंकरण	Wave decoration
लहरिया	Wavy lines
लक्षण	Character
लाजवर्द	Lapıs lazuli
दूधिये पर काला मृद्भाण्ड	Black on cream ware
लाल पर लाल तकनीक	Red on red technique
–स्लिप मृद्भाण्ड	Red slipped ware
लुप्त मोम	Lost wax
लौहमय	Ferruginous
–बालुकाश्म	Ferruginous sandstone
लौलिंगाइट	Lollingite
लौह-युग	Iron age

व

वर्तुलाकार	Circular
वली रेतीला मृद्भाण्ड	Wali sand ware
वासस्थान	Habitation
वाणाग्र	Arrow-head
विवर्तनीय उत्थान	Tectonic uplift
विशाल स्नानागार	Great bath
विशिष्ट संस्कृति	Distinct culture
विशेषता	Characteristic
विस्तारित शवाधान	Extended burial
वृक्ष काल विज्ञान	Dendrochronology
–वलय	Tree-ring

श

शतरंजी पट्ट	Chequor band

शल्क	Flake
–फलक	Flake blade
शवपेटिका	Sarcophagus
शवाधान	Inhumation
शवोपासना	Funerary cult
शिल्प	Craft
–कार/शिल्पी	Crafts-man
–कारिता	Craftmanship
–वैज्ञानिक	Technologist
शिलाखंड/गोलाश्म	Boulder
शिविर	Camp
शुष्कन	Desiccation
शृंगिकाकार तलवार	Antennae sword

स

संखिया	Arsenic
संग्रहालय	Museum
संगोरा	Cairn
–शवाधान	Cairn burial
संचयन पात्र	Storage vessel
संचारण	Transmission
संदूषित	Contaminate
संपिष्टमृद्/घुटी हुई मिट्टी	Levigated clay
संरचना	Structure
सकेन्द्रित	Concentric
सपिंडन	Consolidation
सपीठ थाली	Dish-on-stand
सभ्यता	Civilisation
समतल	Horizontal
सम्मिश्र	Complex
सरल रेखी	Rectilinear
सहस्राब्दि	Millenium

सांख्यकीय	Statistical
साँड	Bull
साँचा	Mould
सांस्कृतिक समरसता	Cultural uniformity
–संचय	Cultural assemblage
सादृश्य	Affinity
सादात एकरेखी मृद्भाण्ड	Sadat single line ware
साधार कटोरा	Pedestalled bowl
साहुल पिंड	Plumb bobs
सिंदूरी मृद्भाण्ड	Scarlet ware
सिन्धु	Indus
सिल-बट्टा	Saddle quern
सिलिका	Silica
सिस्ट (पत्थर का ताबूत)	Cist
सीसा	Lead
सुराही	Carafe
सूती	Fresh water mussel
सेलखड़ी	Steatite
सैंधव	Harappan
स्कंधित कुल्हाड़ी	Shouldered celt
स्तर	Level
स्तरण	Stratification
स्तर प्रमाण	Stratigraphical-evidence
स्थल	Site
स्थानांतर	Migration
स्लिप	Slip
स्पेक्ट्रमी	Spectroscopic
स्फटिक	Quartz
स्फोटगर्ती चट्टान	Vesicular rock
स्रोत	Source

ह

हड्डी की नोक (बेधनी)	Bone point
हत्थे के लिए छेदवाली कुल्हाड़ी	Shaft hole axe
हत्थेदार कटोरा	Bowl with handle
–चषक	Handled cup
हथोड़ियाना	Hammer
हरताल	Orpiment
हस्त निर्मित मृद्भाण्ड	Hand made pottery

शब्दावली संदर्भिका

S.J.C. Bulcke : An English-Hind Dectionary, 1971 (Ranchi).

Standing Commsion for Scientific and Technical Terminology : Science Glossary, 1964 New Delhi

Standing Commsion for Scientific and Technical Terminology : Humanities Glossary I, 1966 New Delhi.

पुराविदों द्वारा प्रचलित तकनीकी शब्द भी प्रयुक्त किये गये।

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

इतिहास सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

पुस्तक का नाम	लेखक का नाम	मूल्य
तारीखे फरिश्ता भाग-1	अनु0 डॉ0 नरेन्द्र बहादुर श्रीवास्तव	400.00
तारीखे फरिश्ता भाग-2	अनु0 डॉ0 नरेन्द्र बहादुर श्रीवास्तव	330.00
पूर्व एशिया का आधुनिक इतिहास भाग-1 व 2	अनु0 पदमाकर चौबे एवं कुमारी मिसला मिश्र	186.00
बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास	डॉ0 गोविन्द चन्द्र पाण्डेय	150.00
भारतीय वास्तुकला का इतिहास	कृष्णदत्त वाजपेई	55.00
उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास	डॉ0 विशुद्धानन्द पाठक	200.00
कौटिल्य कालीन भारत	आचार्य दीपांकर	87.00
कन्नौज का इतिहास	पं0 आनंदस्वरूप मिश्र	175.00
विश्व इतिहास	डॉ0 रामप्रसाद त्रिपाठी	75.00
क्रांतिकारी यूरोप तथा नेपोलियन का युग	डॉ0 ईश्वरी प्रसाद	40.00
उ0प्र0 के बौद्ध केन्द्र	प्रो0 अँगने लाल	166.00
पश्चिमी एशिया	डॉ0 के0के0 कौल	168.00
देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा अशोक	भगवती प्रसाद पांथरी	120.00
भारत का सांस्कृतिक इतिहास	डॉ0 राजेन्द्र पाण्डेय	80.00
प्राचीन भारत का आर्थिक इतिहास	डॉ0 विशुद्धानन्द पाठक	72.00
भारतीय पुरैतिहासिक पुरातत्व	डॉ0 धर्मपाल अग्रवाल एवं पन्नालाल अग्रवाल	120.00
मध्ययुगीन भारतीय समाज एवं संस्कृति	झारखण्ड चौबे एवं कन्हैयालाल श्रीवास्तव	190.00
संस्कृत बौद्ध साहित्य में इतिहास और संस्कृति	प्रो0 अँगने लाल	150.00
उत्तर प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन	डॉ0 विशुद्धानन्द पाठक	100.00
सिन्धु सभ्यता	डॉ0 किरण कुमार थपल्याल एवं डॉ0 संकटा प्रसाद शुक्ल	200.00

सम्पर्क सूत्र
निदेशक
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन
6, महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ - 226001

ISBN : 978-93-82175-34-6

मूल्य रुपये 120=00